

न्यायकन्दली में सप्तपदार्थ

STUDIES IN THE CATEGORIES OF VAISESIKA ACCORDING
TO MAYAYA KANDALI

निबन्धक :
द्विविह्वल आर्य
एम०ए०

निर्देशक :
डॉ० वाचस्पति उपाध्याय
पी०एच० डी० डी० लिट०

दिल्ली विश्वविद्यालय संस्कृत विभाग की
“एम० फिल०” उपाधि-केलु प्रस्तुत, शोध-प्रबन्ध

न्यायकन्दली में सप्तपदार्थ

STUDIES IN THE CATEGORIES OF VAISESIKA ACCORDING
TO NAYAYA KANDALI

निबन्धक :
विविक्कण आर्य
एम०ए०

निर्देशक :
डॉ० वाचस्पति उपाध्याय
पी०एच० डी०, डी० लिट्०

दिल्ली विश्वविद्यालय संस्कृत विभाग को
“एम० फिल०” उपाधि-हेतु प्रस्तुत, शोध-ग्रन्थ

विवृति

न्यायकन्दली में सप्त-पदार्थों की शीर्षक लघु शोध-ग्रन्थ
डा० वाचस्पति उपाध्याय, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली के निर्देशन में लिखा गया है। इसका लेखक घोषित करता है
कि यह शोध उसका मौलिक कार्य है और शोध-कार्य के रूप में इसका
प्रस्तुतीकरण और प्रकाशन संपूर्णतः अथवा अंशतः कहीं नहीं किया गया है।

निर्देशक

हविष्मन्त आर्य
प्रस्तुतकर्ता

कृतज्ञता-ज्ञापन

प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध की पूर्णता के लिये सर्वप्रथम दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष सर्वश्री डा० आर० बी० जोशी जी का आभारी हूँ, जिनके आध्यक्ष्य में यह कार्य करने का सौभाग्य मिला । तदनन्तर इस शोध-निबन्ध के निर्देशक डा० वाचस्पति उपाध्याय जी का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने न केवल प्रातिम-निर्देशन ही दिया अपितु न्याय-वैज्ञानिक शास्त्र में प्रवेश की पुनीत प्रेरणा भी दी एवं अतिरिक्त आत्मीयता से मेरी मनोबल को बढ़ाया । डा० आर० एम० शर्मा से समय-समय पर मुझे उत्साह एवं प्रेमपूर्ण प्रेरणा मिलती रही है, स्तब्ध उनका आभारी हूँ । अन्ततः संस्कृत विभाग के सभी प्राध्यापकों के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ ।

-- इविकुण्डा शर्मा

विषय-सूची

		पृष्ठ
कृतज्ञता-शापन	..	(अ)
विषय-सूची	..	(आ)-(ई)
भूमिका	..	(1)-(v111)
<u>प्रथम अध्याय - पदार्थ निरूपण</u>	..	१-७
पदार्थस्वरूप निरूपण	..	१
पदार्थ भेद निरूपण ..	..	४
<u>द्वितीय अध्याय - द्रव्य स्वरूप निरूपण</u>	..	८-३६
द्रव्य स्वरूप निरूपण ..	..	८
द्रव्य भेद निरूपण ..	..	११
पृथिवी निरूपण ..	..	१३
पृथिवी के दो भेद ..	..	१५
जल निरूपण ..	..	२०
तैल निरूपण ..	..	२३
वायु निरूपण ..	..	२५
आकाश निरूपण ..	..	२७
काल निरूपण ..	..	२६
दिशा निरूपण ..	..	३१
आत्मा निरूपण ..	..	३२
बाबाकादि मत पर्यालोचन ..	..	३३
मननिरूपण ..	..	३७
<u>तृतीय अध्याय - गुण स्वरूप निरूपण</u>	..	४०-७५
गुणस्वरूप निरूपण ..	..	४०
गुणविभाग निरूपण ..	..	४३

विषय-सूची

		पृष्ठ
कृतज्ञता-शापन	..	(अ)
विषय-सूची	..	(वा)-(ई)
भूमिका	..	(१)-(४११)
<u>प्रथम अध्याय - पदार्थ निरूपण</u>	..	१-७
पदार्थस्वरूप निरूपण	..	१
पदार्थ भेद निरूपण ..	..	४
<u>द्वितीय अध्याय - द्रव्यस्वरूपनिरूपण</u>	..	८-३६
द्रव्य स्वरूप निरूपण ..	..	८
द्रव्य भेद निरूपण ..	..	११
पृथिवी निरूपण ..	..	१३
पृथिवी के दो भेद ..	..	१५
जल निरूपण ..	..	२०
तैज निरूपण ..	..	२३
वायु निरूपण ..	..	२५
आकाश निरूपण ..	..	२७
काल निरूपण ..	..	२६
दिशा निरूपण ..	..	३१
आत्मा निरूपण ..	..	३२
चावाकादि मत पर्यालोचन ..	..	३३
मननिरूपण ..	..	३७
<u>तृतीय अध्याय - गुणस्वरूपनिरूपण</u>	..	४०-७५
गुणस्वरूप निरूपण ..	..	४०
गुणविभाग निरूपण ..	..	४३

रूप गुण निरूपण ..	४५
रस गुण निरूपण ..	४६
गन्ध गुण निरूपण ..	४७
स्पर्श गुण निरूपण ..	४७
रूपादि द्विविधत्व तथा पाकजपुक्रिया निरूपण ..	४७-५०
संख्या गुण निरूपण ..	५१
परिमाण गुण निरूपण ..	५२
पृथक्त्व गुण निरूपण ..	५४
संयोग गुण निरूपण ..	५४
संयोगज संयोग निरूपण ..	५५
विभाग संयोग निरूपण ..	५६
विभागज विभाग निरूपण ..	५७
परत्वापरत्व-गुण-निरूपण ..	५८
बुद्धि-गुण-निरूपण ..	६०-६५
सुख-गुण-निरूपण ..	६५
दुःख-गुण-निरूपण ..	६६
इच्छा-गुण-निरूपण ..	६७
द्वेष-गुण-निरूपण ..	६८
प्रयत्न-गुण-निरूपण ..	६८
गुरुत्व-गुण-निरूपण ..	६९
द्रवत्व-गुण-निरूपण ..	६९
स्नेह-गुण-निरूपण ..	७०
संस्कार-गुण-निरूपण ..	७१
धर्म-गुण-निरूपण ..	७३
अधर्म-गुण-निरूपण ..	७४
शब्द-गुण-निरूपण ..	७४

<u>चतुर्थ अध्याय</u> — <u>कर्म निरूपण</u>	..	७६-८१
कर्मा-निरूपण ..	..	७६
कर्मभेद-निरूपण ..	..	७८
<u>पंचम अध्याय</u> — <u>सामान्य निरूपण</u>	..	८२-८८
सामान्य-निरूपण ..	..	८२
जाति (सामान्य) और उपाधि में भेद तथा		
जातिबाधक निरूपण ..	..	८३
सामान्य-भेद-निरूपण ..	..	८६
<u>षष्ठ अध्याय</u> — <u>विशेष निरूपण</u>	..	८८-९१
विशेष-निरूपण ..	..	८८
<u>सप्तम अध्याय</u> — <u>समवाय निरूपण</u>	..	९२-९५
समवाय-निरूपण ..	..	९२
समवाय का नित्यत्व ..	..	९३
समवाय और भीमांसक ..	..	९४
समवाय स्मृत्व ..	..	९५
<u>अष्टम अध्याय</u> — <u>अभाव निरूपण</u>	..	९६-१०२
अभाव-निरूपण ..	..	९६
अभाव प्रमाण है अथवा पदार्थ ..	..	९८
अभाव-भेद-निरूपण ..	..	९९
अभाव और (प्रभाकर) भीमांसक ..	..	१०२
<u>उपसंहार</u> ..	..	१०३
<u>शेष निबन्ध में ग्रहीत ग्रन्थ तथा संकेत विवरण</u> ..	..	१०४

101.

102.

103.

104.

105.

106.

107.

108.

109.

110.

111.

112.

113.

114.

115.

116.

117.

118.

119.

120.

121.

122.

123.

124.

भू मि का

वैशेषिक सूत्र की रचना के अनन्तर उनकी अनेक टीकाएं और भाष्य लिखे गये। जिनमें अधिकांश टीकाकारों और भाष्यों के नामोल्लेख मात्र मिलते हैं। कुछ वृत्तियां भी सूत्रों पर लिखी गयीं। इनमें से एक दो विचित्र रूप में प्राप्त हुई हैं।^१ वैशेषिक सूत्रों पर 'वाक्य' नामक भाष्य या टीका लिखी गयी, जिस पर सिंहसूरि ने व्याख्या भी लिखी। नयचक्र में इसका उल्लेख मिलता है।

पठन पाठन के क्षेत्र में वे ० सूत्रों पर दो ही भाष्य स्थापित प्राप्त हैं --
(१) 'उपस्कार भाष्य' आचार्य संकर मित्र का तथा (२) प्रशस्तपाद भाष्य (पदार्थधर्मसंग्रह) प्रशस्तपादाचार्य का। यद्यपि आचार्य बादरायण की विद्वत्ति टीका, चन्द्रकान्त भाष्य तथा और भी आचार्यों के आधुनिक टीका तथा भाष्य हुए हैं। तथापि इन दो का मूल्य अन्यतम ही है। २२५

पदार्थ धर्म संग्रह आचार्य प्रशस्तपाद का ऐसा भाष्य है जिसकी सर्वाधिक टीकाएं लिखी गयीं वैशेषिक शास्त्र की परम्परा ग्रन्थों में। जिनमें न्यायकन्दली सबसे उपादेय और ग्रन्थार्थ निर्देशिका है।

पदार्थ धर्म संग्रह की टीकाकारों में

न्याय कन्दली का स्थान

'पदार्थ धर्म संग्रह' पर चार प्रमुख टीकाकार हैं :

१. मिथिला विद्यापीठ दरभंगा से प्रकाशित नवम अध्याय के प्रथम आधुनिक तक की वृत्ति, १९५७ में प्रकाशित.
२. नयचक्र, पृ० १५०.

१. व्योमवती (श्री व्योमशिवाचार्यकृत)
२. किरणावली (श्री उदयनाचार्यकृत)
३. न्यायकन्दली (श्री धराचार्यकृत)
४. लीलावती (श्री वत्सबल्लभकृत)

इन सभी टीकाओं की अपनी-अपनी विशेषताएं हैं। उदाहरण के लिये प्रत्येक टीका की प्रमुख विशेषता का सूत्रतया संक्षेप नीचे दिया जाता है :

१. व्योमवती

व्योमशिवाचार्य द्वारा लिखित व्योमवती टीका 'प्रहस्तपादभाष्य' की सर्वाधिक प्राचीन टीका मानी जाती है। क्योंकि उदयनाचार्य ने अपनी किरणावली में तथा न्यायकन्दली के टीकाकार राजेश्वर ने इस टीका तथा इसके आचार्य का उल्लेख किया है।^१

इस टीका की प्रमुक्तम विशेषता यह है कि इसमें तीन प्रमाण माने हैं। सभी टीकाओं में प्रहस्तपादाचार्य के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान में ही सब शेष प्रमाणों का अन्तर्भाव किया है परन्तु व्योमवती टीका शब्द को भी स्वतन्त्र प्रमाण माना है।^२

२. किरणावली

प्रहस्तपादभाष्य की दूसरी प्रमुख टीका किरणावली है। इसके रचयिता उदयनाचार्य हैं। उदयनाचार्य को किरणावली और न्यायकन्दली के परिचय

१. भारतीयदर्शन (बलदेव उपाध्याय), पृ० २२३

२. व्योमशिवाचार्यश्रानि श्री णिप्रमाणानि, तथापि जीवरम्भापेक्षाया अत्र उभे एव निगदिते। हरिभट्ट के षड्वर्गसंमुच्चय की टीका में मणिभट्ट द्वारा उल्लेख, पृ० ६३, चौतम्बा प्रकाशन.

पर विद्वानों में मतभेद है क्योंकि दोनों ही टीकाओं में एक दूसरे की वांछित प्रामांसा या ऊहापोह हुआ है ।^१

किरणावली की प्रमुख विशेषता ईश्वरसिद्धि है । किरणावली पर कई टीकाएं लिखी गयीं । जिनमें 'किरणावली प्रकाश-वर्णमालाभाष्याय तथा 'किरणावली भास्कर-पद्मनाभ मित्र' नाम उल्लेखनीय हैं ।

३. न्यायकन्दली तथा श्रीधराचार्य

श्री धराचार्य का संक्षिप्त परिचय --

श्रीधराचार्य का जन्म ६५० ई० के लगभग गौड़ देश के भूरि वृष्टि नामक ग्राम में हुआ । इनके पिता का नाम बलदेव तथा माता का नाम बच्चोका देवी था । इस पूर्ववर्तित उल्लेख के आधार पर उन्हें बंग-देशीय होने का अनुमान किया जाता है । इनके जन्म का अनुमान इनकी टीका के कालानुसार किया जाता है ।

श्रीधराचार्य वैशेषिक दर्शन के ज्ञान में अन्यतम ज्ञानार्थों में गिने जाते हैं । न्यायकन्दली के पढ़ने से ऐसा प्रतीत हुआ कि श्रीधराचार्य का ज्ञान वहां उत्कर्ष कोटि का था वहां हृदय बड़ा उदार था क्योंकि वैशेषिक शास्त्र के गुरुतम ज्ञान

१. तम के आरोपित नील रूप पर विवाद ।

न्यायकन्दली में किरणावली सिद्धान्तों का अनेकः उल्लेख ।

किरणावली, पृ० ११२.

२. अतीदक्षिराढायां द्विजानां भूरि कर्मणाम् ।

भूरि वृष्टि रिति ग्रामो भूरि वेष्टि अनामयः ॥

तस्माद्विशुद्धगुणारत्न महासमुद्रो विघातता समवलय्यन मुरुहोऽभूत् ।

स्वच्छाशयो विविध कीर्तिनदी प्रवाह प्रस्यन्दनोत्पन्नोऽवलम्बेयनाभा ।

तस्याभूद् भूरिवशतो विमुक्तसम्भवा ।

अन्वोक्त्यर्चित गुणा गुणिनो गुण मेविना ॥ -- न्यायकन्दली, पृ० ७७७.

की तथा उसके कठिन स्थलों की व्याख्या भी बड़ा सरल भाषा में हुई है। श्रीधराचार्य की वृत्ति तटस्थ प्रतीत होती है उन्होंने प्रशस्तपाद और सूत्रकार कणाद के आशय की ब्याख्यक्ति स्पष्ट करने का प्रयास किया है -- अपना सिद्धान्तारोपण-प्रयास नगण्य प्रतीत होता है।

न्यायकन्दली का समय और वैशिष्ट्य

न्याय कन्दली का समय ६६१ ई० है। क्योंकि एक सम्बत् का उल्लेख मिलता है तदनुसार ६६१ ई० ही बैठता है। न्यायकन्दली की पुष्पिका में उक्त काठ ६१३ शक लिखा है।^१

(पदार्थ धर्म संग्रह) प्रशस्तपाद भाष्य पर पूर्ववर्ति तीनों ही टीकाकारों का अपना-अपना गौरव पूर्ण स्थान है तथापि कन्दली का अपना ही वैशिष्ट्य है। न्यायकन्दली के कतिपय वैशिष्ट्य निम्न प्रकार हैं :

१. 'न्यायकन्दली' नाम की सार्थकता

प्रक्षीण निम पक्षीणु स्थापयन्ती गुणानसौ ।

पर-प्रसिद्ध सिद्धान्तान् दहति न्याय कन्दली ॥

प्रशस्तपादभाष्य की टीका कन्दली के अनन्तर बापार्य ने स्वयं कन्दली की सार्थकता दिखाते हुए पूर्ववर्ति श्लोक की रचना की है। जिसमें 'न्याय' शब्द 'तर्कपूर्वक वैशेषिक शास्त्र के पदा' को दृढ़ करने के अर्थ में है तथा 'क' शब्द विशदतया कथन के अभिप्राय में एवं 'दह' शब्द पर-पदा 'दहन' अर्थ में बताया गया है। जिसकी शाब्दिक व्युत्पत्ति इस प्रकार बनेगी --

१. भारतीयदर्शन, पृ० २२३ (उपाध्याय).

(७)

स्वपदास्य (वैशेषिकपदास्य) न्याय पूर्वकं (तर्कपूर्वकं) कथनं, परपदास्य (मीमांसकादि 'आत्मादि विषयै' पदास्य) दहनं च यस्यां विषये या सा न्यायकन्दली ।

इसमें सन्देह नहीं कि 'कन्दली' में वैशेषिक-शास्त्र की मान्यताओं पर किये मीमांसकादिकों के तीव्र प्रहारों का युक्तियुक्त सण्डन तथा स्वपदा सण्डन बड़ी ही सुन्दर रीति से हुआ है। 'समवाय' 'विशेष' तथा 'अभाव' के विषय में मीमांसकों के मत तथा कन्दलीकार द्वारा उनकी प्रान्त प्रारणाओं का सण्डन तत्तद् प्रकरण में किया गया है। आत्म-निरूपण-प्रकरण में कन्दलीकार ने सभी 'पर' शास्त्रों का युक्तियुक्त, सण्डन किया है तथा न्याय-वैशेषिक का आत्म विषयक विचार स्पष्टतया प्रतिपादित स्थित किया है। वाचकों के शरीरात्मवाद का वेदान्तियों के स्कात्मवाद का इसी प्रकार शरीरों का भी युक्तिपूर्ण विवेचन किया है।

नैयायिकों के भी 'पिठरपाक' का समुचित सण्डन तथा वैशेषिकों के 'पीलुपाक' की तर्कपूर्ण सांगोपांग विवेचना तथा 'पीलुपाक' योंकि दूसरे शब्दों में 'परमाणुपाकवाद' भी कहा जा सकता है, की स्थिति न्यायकन्दलीकार ने 'रूपादीनां पाकजीत्वत्ति' प्रकरण में की है। तदनुसार इस शोध-निबन्ध में भी उसका विवेचन यथामति किया गया है।

इस प्रकार न्याय कन्दली शब्द की सार्थकता समुपार्ण सिद्ध हुई। यद्यपि इस पुनर्जित व्युत्पत्ति में कन्दली की 'प्रौढ़ता' की सूचना मिलती है तथापि कन्दली की दूसरी अपनी विशेषता सरलता है उसकी उपेक्षा ही प्रतीत होती है। इसका समाधान देते हैं।

३. 'न्यायकन्दली' नाम विषयक द्वितीय विचार, तथा उसकी दो विशेषताएं --
'प्रौढ़ता' और 'सुगमता'।

सुवर्णमय संस्थानरम्या सर्वोत्तर स्थितिः ।

सुमेरोः शृङ्गवीथीव टीकेयं न्याय कन्दली ॥

सुमेरु के सुवर्ण शृंगों की कल्पना पुराणों में की गयी है, जैसे वे रमणीय हैं, सबसे ऊपर स्थित हैं क्योंकि सुमेरु भी सबसे ऊंचा पर्वत माना गया है। उसी प्रकार न्याय कन्दली सभी टीकाओं में सर्वोपरि है। तथा सु + वर्णों सुन्दर-सरल-सुवर्ण वर्णों से रची गयी है। जहाँ टीका की सर्वाच्चता उसकी प्रौढ़ता का सूचक है, वहाँ सुवर्णता उसकी सुवर्णता, सरलतादि की सूचक है। इस 'न्याय' शब्द तर्क का पर्यायवाची होने से प्रौढ़ता का बोधक है और 'कन्दली' शब्द कठिनाई का पर्यायवाची होने से सुन्दरता रमणीयता तथा सुगमता (अवाप्ति शीघ्रम्) का बोधक है अर्थात् जैसे वर्धविकसित कठिका को देखते रहने को जी चाहता है वैसे भाष्य रूप उपवन में घुसकर उसके सौन्दर्य को बढ़ाने वाली कन्दली रूप टीका को भाष्यावगाहनार्थ देखते रहने को (पढ़ते रहने को) जी चाहता रहता है।

इस प्रकार न्याय-कन्दली में न्याय शब्द प्रौढ़ता और कन्दली शब्द रमणीयता का बोधक होने से इसमें ये दो परम देशिष्ठ्य हैं -- एक तो 'प्रौढ़ता' दूसरे 'वृत्ति-सुगमता'।

न्यायकन्दली की तीसरी विशेषता - भाष्यानुकूलता

न्यायकन्दली की तीसरी विशेषता है 'भाष्यानुकूलता'। 'कन्दली' के अध्ययनानन्तर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि - यह टीका भाष्य के अनुकूल है। कतिपय आचार्य इसे उद्ययनाचार्य की किरणावली पर आधारित मानते हैं जिनमें प्रमुख विद्वान् आचार्य विन्ध्येश्वरीप्रसाद हैं, लेकिन इस धारणा का आधार कदाचित् ईश्वर-निरूपण या समारोपित नील रूप सिद्धान्त की मान्यता ही परन्तु यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि न्याय कन्दली, किरणावली पर आधारित न होकर 'स्वतन्त्र टीका' है। इसका मुख्य कारण है कि यह भाष्य से सीधे सम्बन्धित है या 'भाष्यानुकूल' है।

इसमें तो संदेह नहीं कि भाष्यकार प्रशस्तपादाचार्य ने कणाद सूत्रों के भाष्य में स्वच्छन्दता (स्वामिप्राय निर्दिष्टता) का अवलम्बन किया है -- परन्तु न्यायकन्दली प्रशस्तपाद भाष्य के अनुकूल ही है। प्रशस्तपाद-भाष्य, मात्र सूत्र व्याख्या न होने से ही स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में है।

न्यायकन्दली पर आधारित ग्रन्थ तथा उसकी टीकाएं

प्रशस्तपाद भाष्य पर लिखी जाने वाली सभी प्रमुख टीकाओं पर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ या उन पर टीकाएं लिखी गयीं। तदनुकूल न्यायकन्दली पर भी लिखा जाना स्वाभाविक था। न्यायकन्दली पर लिखे जाने वाले (टीका) की ग्रन्थों का उल्लेख स्फुटतया सभी ऐतिहासिक ग्रन्थों में मिलता है। एक 'पद्मनाभमित्र' द्वारा लिखित 'न्यायकन्दलीसार' द्वितीय वैन विद्वान 'राजशेखर' लिखित 'न्यायकन्दलीपञ्जिका' का।

एक तीसरी पुस्तक स्वयं आचार्य श्रीधर द्वारा लिखित 'संग्रह टीका' का उल्लेख मिलता है।^१ कदाचित् यह 'पदार्थ धर्मसंग्रह' के अभिप्राय की धारणा स्पष्ट करने के लिए न्यायकन्दली के गौरव बढ़ाने हेतु पूर्ववर्ती टीकाओं का समीक्षा ग्रन्थ रहा हो। इसका उल्लेखमात्र मिलता है। ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

न्यायकन्दली के उद्धरणों प्रायः सभी न्याय-वैशेषिक के प्रकरण ग्रन्थों तथा टीकाओं पर 'कन्दली' का प्रभाव रहा है। शिवादित्य की सप्तपदायी, विश्वनाथ पंचानन के भाषा परिचय अन्नमदूट की तर्क संग्रह आदि सभी ग्रन्थों पर इसका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

१. भारतीय दर्शन (वाचस्पति मैरीठा), पृ० २५५.

न्यायकन्दली का प्रतिपाद

‘पदार्थसंग्रह’ पर आधारित होने से, बी प्रतिपाद मूलतया भाष्यकार का है ‘सातपदार्थों का साधर्म्य वैधर्म्य निरूपण’ वहीं कन्दलीकार का भी है। परन्तु ‘कन्दली’ की एक प्रमुख विशेषता यह है कि ‘भाष्यकार’ प्रुक्त परिभाषाओं की व्याकरणिक निरूपित करते हुए उन्हें विषय से संगत किया है। इस प्रवृत्ति का निर्वाह आचार्य ने आबन्त किया है।

दूसरी विशेषता यह है कि जिन ‘विषयों’ पर कौटिलिकों का बन्ना है मतभेद है उन स्थलों का अत्यन्त ही सूक्ष्म दृष्टि से विस्तृत एवं तर्क पूर्ण ढंग से प्रश्नोत्तर प्रणाली का अवगाहन करते हुए व्याख्यान किया है।

तीसरी बात यह है कि जिन पदार्थों के विषय में आचार्य की कुछ विशेष अभीष्ट था, उन्हें भी भाष्य-प्रकरण के अन्तर्गत ही विषयतया स्पष्ट किया है -- जैसे ‘वभाव पदार्थ’ का विवेचन मुख्य रूप से न करके ‘अनुमान प्रकरण’ में ही किया है तथा ‘हरेवर-निरूपण’ दृष्टि संहार प्रकरण में एवं ‘पाक प्रक्रिया’ को ‘रसादीनां पाकनोत्पत्ति’ प्रकरण में ही किया है। इनकी मुख्य रूप से वर्णित नहीं किया गया है।

संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि ‘पदार्थ संग्रह’ पर या कौटिलिक सिद्धान्तों पर भीमांशकादि द्वारा उठायी गयी आपत्तियों का टीका-मुक्त से समाधान करना, न्यायकन्दली का प्रमुख प्रतिपाद है।

प्रथम अध्याय

पदार्थ-स्वरूप-निरूपण

भारतीय चिन्तन पद्धति के परिणाम स्वरूप मोक्ष अथवा निःश्रेयस् या दुःसत्रय की आत्यन्तिकी निवृत्ति मानव जीवन का उत्कृष्टतम उद्देश्य या परम लक्ष्य है। उस परम पुरुषार्थ की प्राप्त्यर्थ मार्ग (साधना) के विषय में भारतीय दर्शनों का विविक्तता ऊहापोह हुआ है। हमें यहां समन्वयात्मक दृष्टिकोण अभीष्ट न होने से केवल वैशेषिक परम्परा के परिप्रेक्ष्य में मुख्यत्वेन न्यायकन्दलीकार श्रीधराचार्य ने किस प्रकार परमपुरुषार्थ उदयभूत निःश्रेयस की सिद्धि के लिये महर्षि कणाद निर्दिष्ट सप्त पदार्थों का विवेचन कथंथा किया है यह सुस्पष्ट करना है।

पदार्थों के विवेचन से पूर्व यह जानना आवश्यक हो जाता है कि 'पदार्थ' शब्द का वैशेषिक परम्परा में क्या अभिप्राय अभीष्ट है? इससे समुचित समाधान के लिये हमें सप्तपदार्थों की यह परिभाषा पर्याप्त सहायक है कि 'यथार्थ-ज्ञान के विषय पदार्थ कहते हैं।'^१

१. प्रमिति विषयाः पदार्थाः शिवादित्य - सप्तपदार्थाः ।

1000000000

1000000000

1000000000

1000000000

1000000000

यौगिक व्युत्पत्ति के दृष्टिकोण से भी 'पदार्थ' शब्द 'पद' और 'अर्थ' इन दो शब्दों से बना है। 'पदस्य अर्थः पदार्थः' पद के अर्थ को पदार्थ कहते हैं। 'अर्थ' का अभिप्राय है वाच्य अथवा विषय। 'पद' का अभिप्राय है वाचक-शब्द या नाम अथवा संज्ञा। अतः विश्व के सभी तत्त्व जो हमारे ज्ञान के विषय हैं और जो किसी नाम से संज्ञित हों पदार्थ कहते हैं।

पदार्थ का और अधिक चिन्तनपरक लक्षण न्यायकन्दली के आधारभूत पदार्थ धर्म संग्रह में इस प्रकार है कि -- 'द्रव्य, गुण आदि वहाँ पदार्थों के अस्तित्व, अभिव्यक्त्य और ज्ञेयत्व ये तीनों समान लक्षण हैं। अर्थात् पदार्थ -
अस्तित्व (Existence) वाले हैं, अभिव्यक्त्य (Nonability) है तथा ज्ञेय
 (Knowability) है।

अस्तित्व

अस्तित्व किसी वस्तु का अपना स्वरूप है।^१ यह सामान्य की भाँति समवाय सम्बन्ध से अपने कारण वस्तु में स्थित नहीं रहता अपितु यह वस्तु का अपना स्वरूप है जो वस्तु से भिन्न नहीं हो सकता। अतः अस्तित्व वस्तु के असाधारण स्वरूप का धौतक है।

अभिव्यक्त्य

अभिव्यक्त्य का अभिप्राय है अभिवान अर्थात् शब्द द्वारा कहे जाने की क्षमता,

१. अस्तित्वं स्वरूपत्वं, यस्य वस्तुनो यत्स्वरूपं तदैव तस्यास्तित्वम् ।

न्याय क० पृ० ४१ वा० सं० वि० वि० प्रकाशन.

वह भी वस्तुओं का स्वरूप ही है ।^१ उद्दयनाचार्य के अनुसार जहाँ भी सत्ता है वहाँ अभिधेयत्व है ।^२

श्री अन्नं मट्ट ने भी अभिधेयत्व पदार्थ सामान्य का उदाहरण स्वीकार किया है ।^३

ज्ञेयत्व

ज्ञेयत्व का अभिप्राय है -- ज्ञानयोग्यता संसार के समस्त पदार्थ जिनका अस्तित्व है ज्ञान के योग्य अर्थात् ज्ञेय हैं । जो वस्तु ज्ञान का विषय नहीं है उसका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता । ज्ञान विषय का प्रकाशन है । विषय का अस्तित्व उसमें प्रकाशित होने की क्षमता रहता है । अभिप्राय है कि जिस वस्तु का अस्तित्व है वह ज्ञेय है जानने योग्य है और जो ज्ञेय है वही अभिधेय है । किसी भी वस्तु के अस्तित्व, ज्ञेयता, अभिधेयता उस वस्तु के पृथक् धर्म नहीं हैं अपितु ये सब वस्तुओं के स्वरूप हैं । वस्तुओं का यह स्वरूप ही अवस्थाओं के भेद से अभिधेयत्व ज्ञेयत्व आदि शब्दों से कहा जाता है ।^४

१. अभिधेयत्वमप्यभिधान प्रतिपादन योग्यत्वम् च वस्तुनः स्वरूपमेव ।

-- न्याय क० पृ० ४१ वा० सं० वि० वि० प्रकाशन.

२. अभिधेयाः पदार्थाः । -- उदाहरणवती, पृ० १.

३. अभिधेयत्वं पदार्थ सामान्य उदाहरणम् ।

-- तर्कदीपिका, पृ० २.

४. भाव स्वरूपमेवावस्था भेदेन ज्ञेयत्वमभिधेयत्व-नोच्यते ।

-- न्याय क० पृ० ४१ वा० सं० वि० वि० प्रकाशन.

बौद्ध मत परिहार

प्रशस्त भाष्य के इस उदाहरण द्वारा क्षाणिकवादी बौद्धों^१ के मत का भी परिहार हो जाता है। क्योंकि यह उदाहरण वस्तु के वास्तविक अस्तित्व या स्वरूप का निर्धारक है।

इस प्रकार पदार्थ का स्वरूप निरूपण करने के अनन्तर अब पदार्थों के भेदों का उल्लेख करते हैं।

पदार्थ-भेद-निरूपण

महर्षि कणाद ने वैशेषिक दर्शन के चतुर्थ सूत्र में केवल इ: पदार्थों का ही उल्लेख किया है^२:

- | | |
|-----------|------------|
| १. द्रव्य | ४. सामान्य |
| २. गुण | ५. विशेष |
| ३. कर्म | ६. समवाय |

महर्षि कणाद ने 'अभाव' को भी पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है। 'अभाव' के पदार्थ मानने में वैशेषिकों की युक्ति इस प्रकार है कि 'घट' के रहने पर 'घटीऽस्ति' यहाँ 'घट' है' ऐसी प्रतीति होती है। ठीक इसी प्रकार जहाँ घट नहीं है वहाँ 'घटी-नास्ति' (घट नहीं है) ऐसी प्रतीति होती है।

-
१. क्षाणिकवादी - बौद्ध प्रत्येक वस्तु को प्रतिक्षण परिवर्तन शील मानते हैं। जबकि वैशेषिक वास्तववादी हैं।
 २. वर्मविशेष प्रकृताद्द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानां पदार्थानां साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां तत्त्व ज्ञानाभिः श्रेयसम् । -- वे० सू० १।१।४.

‘नास्ति’ शब्द से ज्ञेय सातवां ‘अभाव’ पदार्थ है ।

अब विचारणीय बात यह है कि जब महर्षि को ‘अभाव’ नामक ‘सप्तम’ पदार्थ अभीष्ट था तो चतुर्थ सूत्र में ही इसका उल्लेख क्यों नहीं किया ?

इसके समाधान में पदार्थ-सामान्य के तीन लक्षणों पर विचार करना होगा जिसकी मीमांसा पीछे न्यायकन्दलीकार के शब्दों से भी की है । प्रशस्तपादाचार्य द्वारा निर्दिष्ट लक्षण भाव पदार्थों का ही पदार्थ सामान्य लक्षण है । क्योंकि ‘अस्तित्व’ नामक प्रथम पद में अस्ति शब्द से भाव पदार्थों का ही ज्ञान सम्भव है क्योंकि अभाव पदार्थ का ज्ञान अस्ति पद से न होकर तत्प्रतियोगी नास्ति पद से होता है । इसका प्रतियोगी पद से ज्ञान होने से ज्ञेय तथा नास्ति शब्द से अभिधेय है ।

अस्ति शब्द से ज्ञेय पदार्थों का ही ज्ञान होने से उस लक्षण का उत्पन्न है भाव पदार्थ ही था अतः उन्हीं का उल्लेख करणीय था ।^१

पदार्थ विभाजन में अभाव को बाद के वैशेषिकों ने मुक्त कण्ठ से महत्वपूर्ण पदार्थ के रूप में सप्तम पदार्थ का स्थान दिया ।^२

आचार्य जगदीश तर्कालंकार ने तीनों पदार्थों के दो ही भेद स्वीकार किये हैं -- भाव और अभाव ।^३

१. ‘षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिव्यक्तज्ञेयत्वानि ।’ पदार्थसंग्रह.

२. द्रव्यगुणकर्मसामान्य विशेष समवायाभावाः सप्तपदार्थाः । -- तर्कसंग्रह, पृ० १.

३. संक्षेपतः पदार्थो द्विविधा भावोऽभावरश्च । तर्कामृत.

न्यायकन्दलीकार^३ अभाव के सूत्र में न पढ़ने का कारण इन शब्दों में स्पष्ट किया है --

अभावस्य पृथगनुपदेशो भाव पारतन्त्र्यात् नत्व भावात् ।^४

अर्थात् अभाव के स्वतन्त्र रूप में न कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि वह है ही नहीं, अपितु इसका आशय यही है कि अभाव भावपरतन्त्र है ।

उपयुक्त है भाव पदार्थों के सामान्य लक्षण इस प्रकार है --

१. गुणों का आश्रय द्रव्य है ।^२
२. जो सामान्य (जाति) से युक्त हों, गुणों से सर्वथा रहित ही, संयोग और विभाग का स्वतन्त्र कारण न हो वही गुण है ।
३. जो एक समय में एक ही द्रव्य में रहे, गुणों से सर्वथा भूय हों, एवं संयोग और विभाग का स्वतन्त्र कारण हों वही कर्म है ।^५
४. अपने विभिन्न आश्रयों में एकाकारता प्रतीतिरूप अनुवृत्ति प्रत्यय का कारण सामान्य (जाति) है ।^५
५. अपने आश्रय में जोरों से भिन्नत्व बुद्धिरूप व्यावृत्ति प्रत्यय का कारण विशेष है ।^६

१. न्या० का०, पृ० १८.

२. गुणाश्रयोद्भवम् । न्या० क०, पृ० ४० वारा० सं० वि० वि० प्रकाशन.

३. सामान्यवानगुणः संयोग विभागयोरनपेक्षो न कारणं गुणः । --वही.

४. एकद्रव्यमगुणं संयोग विभागयोरनपेक्षकारणं कर्म । -- वही.

५. अनुवृत्तिप्रत्यय कारणं सामान्यम् । -- वही.

६. अत्यन्ताव्यावृत्ति बुद्धि हेतु विशेषः । -- वही.

६. अयुत सिद्धां के आधार और आधेय भाव का नियामक सम्बन्ध 'समवाय' है ।^१

इन पदार्थों के लक्षणों में आये पारिभाषिक शब्दों तथा लक्षणों की विशेष व्याख्या तत्त पदार्थों के व्याख्या प्रकरण में की जायेगी ।

अभाव पदार्थ निर्णय तथा उसके प्रमेयों का विशेष उल्लेख अभाव निरूपण प्रकरण में करेंगे ।

०

१. अयुत सिद्धयोरान्वयान्वयिभावः समवाय इति ।

-- न्या० क०, पृ० ४०.

1. 'सत्यमेव जयते' इति वाक्यं अत्रोक्तं ।

सत्यमेव जयते इति वाक्यं अत्रोक्तं ।

1. 'सत्यमेव जयते' इति वाक्यं अत्रोक्तं ।

सत्यमेव जयते इति वाक्यं अत्रोक्तं ।

1. 'सत्यमेव जयते' इति वाक्यं अत्रोक्तं ।

1. 'सत्यमेव जयते' इति वाक्यं अत्रोक्तं ।

द्वितीय अध्याय

द्रव्य स्वरूप निरूपण

सातों पदार्थों में सर्वप्रथम पदार्थ द्रव्य कहा गया है। इसकी प्राथमिकता का कारण है कि 'सर्वत्रिषोऽद्रव्यम्' द्रव्य, सभी शेष गुण कर्मादि पदार्थों का आश्रय (आधार) है। अभाव नामक सप्तम पदार्थ जोकि भाव रहित है उसका आधार भी द्रव्य ही है। क्योंकि 'घट रूप' द्रव्य के अभाव का होना ही तत्प्राप्ति योगी नास्ति पद का कारण है। यदि गुण-कर्मादि का अभाव नार्हे तो उनकी प्रतीति भी किसी न किसी द्रव्याश्रय से ही सम्भव है। गुण-कर्मादि सभी पदार्थों के आश्रयभूत होने से द्रव्य प्रथम ज्ञानीय है।^१

पीछे पदार्थ स्वरूप निरूपण प्रकरण में न्यायकन्वरी के अनुसार उसकी सामान्य सी परिभाषा दी है अब द्रव्य का स्वरूप निरूपण 'असाधारणवर्णनं लक्षणां'^२ के अनुसार अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भव रूप दोषत्रय तून्य रूप में किया जावेगा। उपर्युक्त असाधारण धर्म युक्त लक्षणा करते समय लक्षणा के प्रयोजन की स्पष्ट करना भी उचित प्रतीत होता है। लक्षणा का प्रयोजन है -- व्यावृत्ति अर्थात् सजातीय और विजातीय पदार्थों से भेद करना तथा दूसरा प्रयोजन है व्यवहार में प्रवृत्त करना।^३ इस प्रकार व्यवहार भी लक्षणा का द्वितीय प्रयोजन हुआ।^४

१. आदौ द्रव्यस्यादेशः सर्वाश्रयत्वेन प्राधान्यात्। न्याय क०, पृ० १७.

२. तर्कभाषा -- विश्वेश्वर टीका, पृ० ८

३. समानासमानजातीय व्यवचोकेहिलक्षणाः।

४. व्यावृत्ति व्यवहारों वा लक्षणास्य प्रयोजनम्।

संस्कृत-शब्दार्थ

संस्कृत-शब्दार्थ

संस्कृत-शब्दार्थ

संस्कृत-शब्दार्थ

संस्कृत-शब्दार्थ

संस्कृत-शब्दार्थ

संस्कृत-शब्दार्थ

संस्कृत-शब्दार्थ

संस्कृत-शब्दार्थ

संस्कृत-शब्दार्थ

संस्कृत-शब्दार्थ

संस्कृत-शब्दार्थ

संस्कृत-शब्दार्थ

संस्कृत-शब्दार्थ

संस्कृत-शब्दार्थ

संस्कृत-शब्दार्थ

संस्कृत-शब्दार्थ

संस्कृत-शब्दार्थ

संस्कृत-शब्दार्थ

न्यायकन्दली के अनुसार 'गुणाश्रयोद्रव्यम्' गुणा का आश्रय द्रव्य है। इस द्रव्य लक्षण की भीमांसा करते हैं -- क्योंकि द्रव्याँ में कोई न कोई गुण अवश्य रहता है। उदाहरण के लिए पृथिवी एक द्रव्य है उसमें गन्धरूप गुण रहता है, इसी प्रकार जल में शीतस्पर्श तथा रसरूप गुण रहते हैं। तेज, वायु, आकाशादि में भी रूप, स्पर्श, शब्दादि गुण रहते हैं। संक्षेपतः गुण जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहें ऐसा (गुणी) पदार्थ द्रव्य है। इसीलिए पाँच प्रकार के समवाय सम्बन्धों में एक गुणी (अर्थात् द्रव्य) और गुण का भी वैशेषिकों ने समवाय सम्बन्ध स्वीकार किया है। इसी की पुष्टि में हम वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद का सूत्र भी उपलब्ध होता है --

‘क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्य लक्षणात्’^१

इस लक्षण में 'क्रियावत्' का अर्थ है कि द्रव्य क्रियावान् है। आकाशादि विभु द्रव्याँ में तो क्रिया होती नहीं वे तो निष्क्रिय हैं। तब फिर यह द्रव्य का लक्षण क्योंकि ठीक है? इसके समाधानार्थ - क्रियावत् का अभिप्रायः है कि -- क्रिया द्रव्य में ही रहती है, गुणादि में नहीं। इस प्रकार ब्रह्माप्ति दोष की शंका का निवारण हो जाता है।

दूसरा इसका औचित्यपूर्ण समाधान आचार्य जनाराम ने किया है।^२

१. वै० शं० १।१।५.

२. प्रसस्तपाद भाष्य के एक टीकाकार श्री जनाराम भट्टाचार्य।
न्यायकन्दली (हिन्दी) श्री दुर्गाधर मल्ल की भूमिका, पृ० ३ पर उल्लेख.

उनका कहना है कि संयोग और विभाग ये दोनों गुण आकाश, काल, आदि निष्क्रिय द्रव्यों में भी रहते ही हैं, अतः आकाश, कालादि विभु द्रव्य भी संयोग वाले और विभाग वाले हैं। 'क्रियावत्' शब्द आकाशादि द्रव्यों में भी विभाजक उपाधिमत्त्व का सूचक है -- अतः क्रियावत् लक्षणा अव्याप्त दोष से रहित है।^१

'गुणाश्रयोद्रव्यम्' इस लक्षणा में भी यह संका होती है कि प्रथम क्षण में उत्पन्न होने वाला कोई भी द्रव्य निर्गुण होता है। अतः इसमें अव्याप्ति दोष है। इसकी समाधानार्थ कहते हैं कि पहले ही 'घट रूप' द्रव्य प्रथम क्षण में निर्गुण रहता है, परन्तु द्वितीय क्षण में उसमें रूपादि गुण उत्पन्न होते हैं। परिणामतः उसमें रूपादि की अभिव्यक्ति होती है। वे गुण द्रव्य में ही होते हैं और उनका द्रव्य में अत्यन्ता भाव सम्भव नहीं है अतः अव्याप्ति दोष का परिहार हो जाता है।

द्रव्य लक्षणा का तीसरा विचारणीय शब्द है 'समवायिकारण'। संयोग और विभाग सभी द्रव्यों में समान रूप से रहने वाला 'गुण' है। अतः सभी द्रव्य, संयोग और विभाग के समवायि कारण हैं। संयोग और विभाग का समवायि कारणत्व ही द्रव्यत्व जाति का बोधक है। गुणादि पदार्थों में संयोग और विभाग का समवायिकारणत्व नहीं है। इसमें एक नया शब्द द्रव्यत्व आया जो विवेचनीय है क्योंकि 'द्रव्यत्व जाति वाला द्रव्य है' ऐसा द्रव्य का लक्षणा मिलता है। यह 'त्वे' शब्द उस वस्तु के अस्तित्व को सूचित करने वाले विशेष गुण का धोतक है। यथा -- पृथिवी में गन्वापि विशेष गुण के रहते उसका पृथिवीत्व सम्भव है। इसी प्रकार द्रव्य में गुणों का समवायि सम्बन्ध है

१. यद्यपि द्रव्यस्य नासमवायिकारणं न च समवायिकारणत्वं गुणकर्मणोः ।

-- न्या० क०, पृ० ४८.

रहना ही उसका द्रव्यत्व जातिमत्त्व है । इस प्रकार यह अंश न्यायकन्दलीकार की द्रव्य परिभाषा 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' की पुष्टि करता है । इस प्रकार यह संक्षेपतः द्रव्य स्वरूप निरूपण हुआ । अब प्रसंग प्राप्त द्रव्य भेद निरूपण किया जायगा ।

द्रव्य भेद निरूपणम्

अब विचारणीय यह है द्रव्य कितने हैं । वैशेषिकों का उत्तर है 'नवैवेति' अर्थात् द्रव्य नौ ही हैं ।^१ सूत्रकार द्वारा गिनाये गये नौ द्रव्य ये हैं --

- | | |
|-----------|----------|
| १. पृथिवी | ६. काल |
| २. जल | ७. दिक् |
| ३. तैज | ८. आत्मा |
| ४. वायु | ९. मन |
| ५. आकाश | |

ये द्रव्य नौ ही क्यों माने जायें ? इसके उत्तर में श्रीपराचार्य ने प्रथम बात तो आचार्य प्रशस्तपाद की ही कही है कि -- 'सर्वज्ञ महर्षि' कणाद ने इन नौ द्रव्यों से भिन्न किसी का उल्लेख द्रव्य नाम से नहीं किया ।^२ दूसरी बात आचार्य कहते हैं कि -- 'यदि नौ से अधिक द्रव्य हैं भी तो प्रकृत में उनका

-
१. तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तीजो वाय्वाकाश कालदिगात्मानांसि सामान्य विशेषसंज्ञावतानि नवैवेति । -- न्या० क०, पृ० २०.
 २. तैभ्यो नवैभ्योऽव्यतिरेकेण सर्वज्ञेन महर्षिणा सर्वाधिपदेशाय प्रवृत्तेनान्यस्य संज्ञानभिधानात् । -- वही, पृ० २१.

रहना ही उसका द्रव्यत्व जातिमत्त्व है । इस प्रकार यह अंश न्यायकन्दलीकार की द्रव्य परिभाषा 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' की पुष्टि करता है । इस प्रकार यह सन्दोषतः द्रव्य स्वरूप निरूपण हुआ । अब प्रसंग प्राप्त द्रव्य भेद निरूपण किया जायगा ।

द्रव्य भेद निरूपणम्

अब विचारणीय यह है द्रव्य कितने हैं । वैशेषिकों का उत्तर है 'नवैवेति' अर्थात् द्रव्य नौ ही हैं ।^१ सूत्रकार द्वारा गिनाये गये नौ द्रव्य ये हैं --

१. पृथिवी	६. काल
२. जल	७. दिक्
३. तैज	८. आत्मा
४. वायु	९. मन
५. आकाश	

ये द्रव्य नौ ही क्यों माने जायें ? इसके उत्तर में श्रीपराचार्य ने प्रथम बात तो आचार्य प्रशस्तपाद की ही कही है कि -- 'सर्वज्ञ महर्षि' कणाद ने इन नौ द्रव्यों से भिन्न किसी का उल्लेख द्रव्य नाम से नहीं किया ।^२ दूसरी बात आचार्य कहते हैं कि -- 'यदि नौ से अधिक द्रव्य हैं तो प्रकृत में उनका

-
१. तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजो वाय्वाकाश कालदिगात्मानांसि सामान्य विशिष्टसंज्ञकानि नवैवेति । -- न्या० क०, पृ० २०.
 २. तेषां नवैष्याः व्यतिरेकेण सर्वज्ञ महर्षिणा सर्वाधिपदेशाय प्रवृत्तेनान्यस्य संज्ञानभिधानात् । -- वही, पृ० २१.

उपयोग नहीं है ।^१ अतः केवल नौ ही द्रव्य उपयोगी हैं स्तवर्ध नौ का उद्घाटन किया गया है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि 'तम' को 'दशम' द्रव्य के रूप में क्यों न माना जाय ? अब ^{कि} द्रव्य स्वरूप निरूपण प्रकरण में कहे गये सभी द्रव्य के उद्घाटन घटते हैं । यथा जिसमें गुण और क्रिया हो वह द्रव्य है । अन्वकार में रूप, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व संयोग और विभाग ये आठ गुण विद्यमान हैं ।^२ 'अन्वकार चलता है' ऐसी प्रतीति होने से तम क्रियावान भी है । दूसरी बात यह भी है कि पृथिवी आदि नौ द्रव्यों से भिन्न भी है । क्योंकि गन्ध की उपलब्धि न होने से वह पृथिवी नहीं है । स्पर्श की प्रतीति न होने के कारण जल, तेज और वायु भी नहीं है । उसमें रूप का प्रत्यक्ष होता है अतः वह आकाश, काठ दिक् आत्मा और मन भी नहीं है । इस प्रकार कश्चित नौ द्रव्यों में इसका अन्तर्भाव नहीं है ।

इसका समाधान करते हैं कि 'अन्वकार प्रकाश के अभाव का ही लक्षण है ।'^३ क्योंकि जब प्रकाश है तो उसका अभाव भी होगा ही । वह अन्वकार ही है अतः अन्वकार को दशम द्रव्य की मान्यता देना व्यर्थ है । परन्तु विचारणीय बात यह है कि -- यदि अन्वकार अभाव रूप ही है तो उसमें गुण और कर्म की प्रतीति कैसे सम्भव है ? इसका समाधान मुक्तावलीकार ने औचित्यपूर्ण ढंग से दिया है कि

१. उत् सतामप्यनुपयोगित्वाद् उद्घाटनं कृतमिति ।

-- न्या० क०, पृ० २१.

२. वही, पृ० २१.

३. आ भावे सतितमसः प्रतीतिः ।

-- वही, पृ० २७.

अन्धकार में गुण और कर्म की दोनों प्रतीतियाँ केवल भ्रम हैं क्योंकि जैसे -
 आकाश नीला है यह प्रतीति भ्रम है क्योंकि आकाश का कोई रूप नहीं उसी
 प्रकार अन्धकार की नील रूप प्रतीति भी भ्रम है। इसी प्रकार उसमें चलने की
 प्रतीति भी भ्रम है क्योंकि प्रकाश एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है अतः
 प्रकाश के चलने के कारण अन्धकार भी चलता प्रतीत होता है। अन्धकार की
 गमन प्रतीति भी भ्रमरूपा है। इसके अतिरिक्त अन्धकार की पृथक् कल्पना तदनुसार
 उसके अवयवों के कल्पना गौरव रूप दोष का भी परिष्कार ही जाता है।

पृथिवी निरूपण

‘पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात् पृथिवी ।’ प्रसस्तापादाचार्य द्वारा पृथिवी का
 यह लक्षण किया गया है कि पृथिवीत्व जाति के सम्बन्ध से यह पृथिवी है।
 पृथिवी को समान जातीय और विजातीय से पृथक् करने वाले असाधारण कर्म
 के द्वारा उसे समझाने के लिए -- ‘पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात् पृथिवी’ यह वाक्य
 कहा है।^१ अब जानना यह अवैदित होगा कि पृथिवी का ऐसा कौनसा कर्म
 है जो उसके पृथिवीत्व को जलादि सजातियों तथा गुणकर्मादि विजातियों से
 ड्रव्यों से भिन्न लक्षण वाला बनाता है। जबकि पृथिवी में पृथिवीत्व को बताने
 वाले - रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पुनरुत्पत्ति, अंगों का विभाग
 परत्वापरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार ये चौदह (१४) गुण विद्यमान रहते हैं।
 यही गुण पृथिवी की भांति जलादि में भी समान रूप से रहते हैं तब तो पृथिवी
 का इन १४ गुणों से युक्त होना (पृथिवीत्व) पृथिवी का असाधारण कर्म रूप
 लक्षण नहीं हुआ। इसके समाधानार्थ कहते हैं ‘द्विजातौ गन्ध वाली
 होना पृथिवी का असाधारण कर्म है, जो जलादि से उसे पृथक् करता है।

१. न्यायो को, पृ० ७३-७४.

... १५ ... १६ ... १७ ... १८ ... १९ ... २० ... २१ ... २२ ... २३ ... २४ ... २५ ... २६ ... २७ ... २८ ... २९ ... ३० ... ३१ ... ३२ ... ३३ ... ३४ ... ३५ ... ३६ ... ३७ ... ३८ ... ३९ ... ४० ... ४१ ... ४२ ... ४३ ... ४४ ... ४५ ... ४६ ... ४७ ... ४८ ... ४९ ... ५० ... ५१ ... ५२ ... ५३ ... ५४ ... ५५ ... ५६ ... ५७ ... ५८ ... ५९ ... ६० ... ६१ ... ६२ ... ६३ ... ६४ ... ६५ ... ६६ ... ६७ ... ६८ ... ६९ ... ७० ... ७१ ... ७२ ... ७३ ... ७४ ... ७५ ... ७६ ... ७७ ... ७८ ... ७९ ... ८० ... ८१ ... ८२ ... ८३ ... ८४ ... ८५ ... ८६ ... ८७ ... ८८ ... ८९ ... ९० ... ९१ ... ९२ ... ९३ ... ९४ ... ९५ ... ९६ ... ९७ ... ९८ ... ९९ ... १०० ...

... १०१ ... १०२ ... १०३ ... १०४ ... १०५ ... १०६ ... १०७ ... १०८ ... १०९ ... ११० ... १११ ... ११२ ... ११३ ... ११४ ... ११५ ... ११६ ... ११७ ... ११८ ... ११९ ... १२० ... १२१ ... १२२ ... १२३ ... १२४ ... १२५ ... १२६ ... १२७ ... १२८ ... १२९ ... १३० ... १३१ ... १३२ ... १३३ ... १३४ ... १३५ ... १३६ ... १३७ ... १३८ ... १३९ ... १४० ... १४१ ... १४२ ... १४३ ... १४४ ... १४५ ... १४६ ... १४७ ... १४८ ... १४९ ... १५० ... १५१ ... १५२ ... १५३ ... १५४ ... १५५ ... १५६ ... १५७ ... १५८ ... १५९ ... १६० ... १६१ ... १६२ ... १६३ ... १६४ ... १६५ ... १६६ ... १६७ ... १६८ ... १६९ ... १७० ... १७१ ... १७२ ... १७३ ... १७४ ... १७५ ... १७६ ... १७७ ... १७८ ... १७९ ... १८० ... १८१ ... १८२ ... १८३ ... १८४ ... १८५ ... १८६ ... १८७ ... १८८ ... १८९ ... १९० ... १९१ ... १९२ ... १९३ ... १९४ ... १९५ ... १९६ ... १९७ ... १९८ ... १९९ ... २०० ...

... २०१ ... २०२ ... २०३ ... २०४ ... २०५ ... २०६ ... २०७ ... २०८ ... २०९ ... २१० ... २११ ... २१२ ... २१३ ... २१४ ... २१५ ... २१६ ... २१७ ... २१८ ... २१९ ... २२० ... २२१ ... २२२ ... २२३ ... २२४ ... २२५ ... २२६ ... २२७ ... २२८ ... २२९ ... २३० ... २३१ ... २३२ ... २३३ ... २३४ ... २३५ ... २३६ ... २३७ ... २३८ ... २३९ ... २४० ... २४१ ... २४२ ... २४३ ... २४४ ... २४५ ... २४६ ... २४७ ... २४८ ... २४९ ... २५० ... २५१ ... २५२ ... २५३ ... २५४ ... २५५ ... २५६ ... २५७ ... २५८ ... २५९ ... २६० ... २६१ ... २६२ ... २६३ ... २६४ ... २६५ ... २६६ ... २६७ ... २६८ ... २६९ ... २७० ... २७१ ... २७२ ... २७३ ... २७४ ... २७५ ... २७६ ... २७७ ... २७८ ... २७९ ... २८० ... २८१ ... २८२ ... २८३ ... २८४ ... २८५ ... २८६ ... २८७ ... २८८ ... २८९ ... २९० ... २९१ ... २९२ ... २९३ ... २९४ ... २९५ ... २९६ ... २९७ ... २९८ ... २९९ ... ३०० ...

वायु और जल में भी गन्ध की प्रतीति होती है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि पृथिवी में ही गन्ध है 'क्षितावेव गन्धः इति' कहते हैं कि जल और वायु में गन्ध की प्रतीति पृथिवी की ही है क्योंकि जब जल या वायु का पृथिवी से संयोग सम्बन्ध होता है तभी इनमें गन्ध की प्रतीति होती है क्योंकि गन्ध पृथिवी में समवाय सम्बन्ध से रहती है जब जल और वायु का पृथिवी से संयोग होता है तो जल और वायु में भी गन्ध की प्रतीति होती है यह प्रतीति संयुक्त समवेत सम्बन्ध से होती है। शुद्ध रूप में जल या वायु में गन्ध की उपलब्धि नहीं होती।

इस पर शंका होती है कि गन्धवत्त्व ही पृथिवी का असाधारण बर्ण है तो यह तो ठीक नहीं हुआ क्योंकि पाषाण भी तो पृथिवी ही है परन्तु उसमें गन्ध नहीं पायी जाती। इस प्रकार यह लक्षण तो पृथिवी में ही अव्याप्त रहा।

समाधान में कहते हैं पाषाण में भी गन्ध है परन्तु उद्भूत न होने से ग्रहण नहीं होता है। क्योंकि यदि पाषाण में गन्ध न होता तो उसकी भस्म तैयार करने पर बर्णकर गन्ध उद्भूत होती है। पाषाण और पाषाण भस्म दोनों का कारण एक ही परमाणु पृथिवी है। अतः पाषाण पृथिवी ही है और गन्ध के ग्रहण न होने का कारण उत्कट रूपेण प्रकट न होना है। अतः गन्धवत्त्व लक्षण की पृथिवी में अव्याप्ति नहीं है।

पृथिवी के चौदह गुणों में सर्वप्रथम गुण है रूप। यह रूप गुण - सुलभ, नील, पीत, रक्त, हस्ति, कपिश (काळा) और चित्र (चित्कबरा) भेद से सात प्रकार का होता है। ये सातों रूप पृथिवी में ही रहते हैं। इस रूप गुण का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। न्यायकन्दलीकार के विचार में यद्यपि रूप गुण - पृथिवी-जल-तैल तीनों द्रव्यों में है तथापि अनेक प्रकार के रूप पृथिवी में ही हैं इस प्रकार 'क्षितावेवगन्धः' की भाँति 'रूपवती पृथिवी' यह पृथिवी का

असाधारण लक्षण सम्भव है। एक ही पृथिवीत्व जाति के द्रव्यों में अविशेष भेद से अनेक प्रकार के रूप देखे जाते हैं।

मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, और तिक्त इन छः भेदों काठा रस भी इसी पृथिवी में रहता है।

गन्ध के दो भेद हैं -- सुरभि और असुरभि। अर्थात् सुगन्ध और दुर्गन्ध। ये दोनों प्रकार की गन्ध पृथिवी में ही रहती हैं।

रूप रस गन्ध और चतुर्थ गुण स्पर्श ये चारों गुण पृथिवी के पाक्य और अनित्य होते हैं। पाक्योत्पत्ति की प्रक्रिया का सामान्य उदाहरण है कि -- कच्चा आम हरा होता है -- पश्चात् अग्नि संयोग या (सूर्य संयोग) से फल कर पीला हो जाता है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन चारों में ही तब संयोग होने से अन्तर आ जाता है। इस प्रकार पृथिवी के ये चारों गुण पाक्य माने गये हैं।

पृथिवी के दो भेद -- नित्य एवं अनित्य

नित्य और अनित्य भेद से पृथिवी दो प्रकार की होती है। नित्य पृथिवी परमाणुरूपा होती है तथा अनित्य पृथिवी कार्य रूपा। परमाणु रूपा पृथिवी नित्य है इसमें परमाणु को समझना आवश्यक है। इसमें समझने के लिए एक उदाहरण बहुत सहायक है कि जैसे बड़ी वस्तु के परिमाण में बड़ी और उससे भी बड़ी की अनवरत धारा महत्परिणाम वाले वाकाश तक चलती है क्योंकि उससे भी बड़ी की अनवरत धारा महत्परिणाम वाला कुछ नहीं है वैसे ही छोटे परिमाण का तात्पर्य वहाँ भी समाप्त होता है वहाँ परमाणु की अवस्था है। वह नित्य है। यद्यपि किसी भी प्रकार जिस छोटे परिमाण का हम चाहेगु प्रत्यक्ष कर पाते हैं उसका नाम

वैशेषिक की भाषा में त्र्यणुक है । दो परमाणुओं के मेल से एक द्व्यणुक बनता है और ऐसे तीन द्व्यणुकों के मेल से एक त्रसरणु (त्र्यणुक) बनता है जिसका प्रत्यक्ष हमें होता है ।

प्रश्न यह अवश्य उठ सकता है कि त्रसरणु जो सबसे सूक्ष्म चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय है क्यों न वहीं अवयवधारा की समाप्ति मान लें और वही परमाणु क्यों न माना जाय ?

चूंकि जिसका चाक्षुष प्रत्यक्ष हो रहा है वह अवश्य ही महत्परिमाण वाला है और जो महत्परिमाण वाला है वह साव्यव है अतः वही सूक्ष्मता की परिसमाप्ति नहीं मानी जा सकती । रही बात कि परमाणु पर ही क्यों समाप्ति मान लें क्यों न यह अवयव धारा और आगे चले ? यह तो ठीक है कि परमाणु के भी अवयव की कल्पना की जाय परन्तु इस प्रकार की कल्पना आखिर कहाँ जाकर रुकेगी ? इस प्रकार की अवस्था दोष से युक्त कल्पना ठीक नहीं । अतः परमाणु पर ही अवयव धारा की परिसमाप्ति औचित्यपूर्ण प्रतीत होती है । अतः अणुपरिमाण का न्यूनाधिक भाव जहाँ समाप्त होता है वही नित्य परमाणु है ।

इससे पूर्व मैं यह प्रतिपादित किया गया है कि दो परमाणुओं से द्व्यणुकों की उत्पत्ति होती है और उनसे त्रसरणु (त्र्यणुक) और इन त्रसरणुओं से कार्यरूप अनित्य पृथिवी की उत्पत्ति होती है । यह त्रसरणु भी कार्यरूप द्रव्य द्व्यणुकों से उत्पन्न होने से अनित्य ही है ।

-
१. तस्मादणु परिमाणं क्वचिन्निरतिशयमिति सिद्धौ नित्यः परमाणुः ।
 २. तदैवं द्व्यणुकादि क्रमेण क्रियते कार्यलक्षणा पृथिवी ।
 ३. त्र्यणुकं कार्यं द्रव्यैर्णैव अन्यते महत्परिमाण त्वात् ।

नित्य परमाणु-रूपा पृथिवी तो एक ही प्रकार की है परन्तु कार्यरूपा अनित्य पृथिवी तीन प्रकार की है -- (क) शरीर, (ख) इन्द्रिय, (ग) विषय ।

(क) शरीर

भौवता (जीव) जिस आत्म से भोग करे वही शरीर है ।^१ मुख्यतः शरीर के दो भेद हैं --

१. यौनिज ।

२. अयौनिज ।

यहां 'यौनि' शब्द का अभिप्राय है 'शुक्र और शीणित (रज) का भेद' ।^२ उससे उत्पन्न होने वाला शरीर यौनिज कहा जाता है । यौनिज शरीर भी (१) जरायुज और (२) अण्डज भेद से दो प्रकार है । मनुष्य, पशु, तथा मृग आदि के शरीर जरायुज होते हैं । जरायुज से अभिप्राय है जैर से उत्पन्न शरीर । (एक प्रकार की भित्ती जिसमें पिण्ड बन्द रहता है) । अण्डे से पैदा होने वाले शरीर अण्डज कहलाते हैं यथा -- चिड़िया, साँप आदि जीवों के । न्याय कन्दलीकार ने जरायु शब्द का अर्थ गमसिंघ किया है उससे वैष्टित होकर पैदा होने के कारण ये मनुष्यादि के शरीर जरायुज कहलाते हैं ।^३ इन यौनिज शरीरों के विकास का क्रम कन्दली-कार ने स्पष्ट करते हुए कहा कि 'शुक्र और शीणित (रज) के आरम्भ परमाणुओं के पूर्ण रूपादि का नाश और दूसरे रूपादि की उत्पत्ति होती है । बदले हुए रूपादि के परमाणुओं से 'कल' नामक सूक्ष्म शरीर की

-
१. भौवतु भौगायतनं शरीरम्.. । न्या० क०, पृ० ८२.
 २. शुक्रशीणितसंक्रियतौ यौनिः तस्माज्जातं यौनिजम् । वही, पृ० ८२.
 ३. जरायुरिति गमसिंघस्याभिधानं तेन वैष्टितं जायत इति । वही, पृ० ८६.

उत्पत्ति होती है। फिर 'केवल' संज्ञक शरीर के परमाणुओं का नाश होकर वे परमाणु पुनः कुछ अंग उपांगों से मुक्त स्थूल शरीर की उत्पत्ति करते हैं। यही प्रतिदिन के उत्पत्ति-विनाश के क्रम से स्थूल शरीर का क्रमिक विकास होता है।^१

अयोनिज शरीरों की उत्पत्ति में शुक्र तथा रज (शोणित) की अपेक्षा नहीं होती। ये अयोनिज शरीर देवताओं और ऋषियों के कहे गये हैं। इस पर संका हूँ देवताओं और ऋषियों के शरीर बिना शुक्र और शोणित के सम्भव नहीं? इसके उत्तर में कहते हैं -- उत्कृष्ट धर्म (धर्म विशेष) की सहायता से केवल परमाणु ही देवादि शरीरों की उत्पन्न करते हैं। शुक्र और शोणित के आरम्भिक परमाणुओं में एवं अन्य पार्थिव परमाणुओं में कोई अन्तर नहीं क्योंकि दोनों में पार्थिवत्व समान रूप से है।^२ इनके नियामक (कारण) के रूप में अदृष्ट को स्वीकार किया गया है। इसी से अयोनिज शरीरों के ही अन्यतम भेद उद्भिज्ज शरीरों की उत्पत्ति का संकेत मिल जाता है जिसकी स्पष्टतया स्वीकृति तथा व्याख्या न्याय वैशेषिक के उच्चरवर्ती मुक्तावली आदि ग्रन्थों में मिलती है।^३ उद्भिज्ज शरीर वृक्षलता गुल्मारि के होते हैं। देव ऋषि आदि-का के शरीर अयोनिज होने में यह भी तर्क संगत है कि धृष्टि के आदि में तभी सभी धृष्टियाँ अभ्युत्थनी होने से अयोनिज होती हैं जिनका कारण अदृष्ट ही होता है। इस प्रकार की आदि-धृष्टि की अभ्युत्थनी धृष्टि उद्भिज्ज ही सम्भव है जिसमें आरम्भिक पार्थिव परमाणु कारण होते हैं। वृक्ष, लता, उल्मादि की धृष्टि वर्तमान में भी उद्भिज्ज ही है।^४

१. न्याय क०, पृ० ८५.

२. वही, पृ० ८३.

३. अयोनिजं स्वादयोद्भिज्जादिकम् । -- न्या० सि० मु०, पृ० १८३.

४. त्रेकान्गादि आशुके अं ओ चतुष्पा निभाजन डे।

कुड़ जन्तु - डांस, मच्छर, भूँ आदि की दृष्टि भी अयोग्य मानी गयी है। इनके शरीर यातना शरीर कहलाते हैं। ये स्वेदज अर्थात् पसीना या तद्वत् कीचड़-गन्दगी आदि से उत्पन्न कहे गये हैं। इनके शरीर अवर्म और परमाणुओं से ही उत्पन्न होते हैं।^१

(स) इन्द्रिय

इन्द्रिय रूप पृथिवी वह है जिसके द्वारा समस्त प्राणीमात्र की गन्ध का ज्ञान होता है। इसकी संज्ञा घ्राण है। घ्राणोन्द्रिय पार्थिव इसलिये है क्योंकि वह रूप रसादि में से वह केवल गन्ध की ही व्यंजक (ग्राहक) है। मछी ही कोई द्रव्य गन्ध के साथ-साथ रूप और रसादि से संयुक्त हो परन्तु घ्राणोन्द्रिय गन्ध का ही ग्रहण करती है जो पृथिवी का असाधारण लक्षण है -- 'गन्धवत्त्व'।
अतः घ्राण इन्द्रिय रूप पृथिवी है।

विषय

विषय रूपा पृथिवी की तीन प्रकार की है --

१. पृच्छिका ।
२. पाषाण ।
३. स्थावर ।

विषय रूप पृथिवी परमाणुओं से द्रवणुक द्रवणुओं से प्रसरेणु आदि रूप से उत्पन्न होती है। अतः द्रवणुक से ब्रह्माण्ड पर्यन्त विषय में कहा गया है। विश्वनाथ ने सम्पूर्ण अस्तित्व पृथिवी को विषय कहा है। पृच्छिका पाषाणादि

१. (न्या० क०) प्र० पा० भा०, पृ० ८२.

२. विषयीद्रवणुकदिश्व ब्रह्माण्डान्तं उदाहृतः ।।

-- न्या० सि० मु०, पृ० १६२.

सर्वप्रथम यह ध्यान रखना चाहिये कि यह पुस्तक - पुनः प्रकाशित

है। इस पुस्तक में जो विषय हैं वे सभी विषयों में समान हैं। इस पुस्तक

में जो विषय हैं वे सभी विषयों में समान हैं। इस पुस्तक

में जो विषय हैं वे सभी विषयों में समान हैं। इस पुस्तक

में जो विषय हैं वे सभी विषयों में समान हैं। इस पुस्तक

में जो विषय हैं वे सभी विषयों में समान हैं। इस पुस्तक

में जो विषय हैं वे सभी विषयों में समान हैं। इस पुस्तक

में जो विषय हैं वे सभी विषयों में समान हैं। इस पुस्तक

में जो विषय हैं वे सभी विषयों में समान हैं। इस पुस्तक

में जो विषय हैं वे सभी विषयों में समान हैं। इस पुस्तक

में जो विषय हैं वे सभी विषयों में समान हैं। इस पुस्तक

में जो विषय हैं वे सभी विषयों में समान हैं। इस पुस्तक

में जो विषय हैं वे सभी विषयों में समान हैं। इस पुस्तक

में जो विषय हैं वे सभी विषयों में समान हैं। इस पुस्तक

में जो विषय हैं वे सभी विषयों में समान हैं। इस पुस्तक

में जो विषय हैं वे सभी विषयों में समान हैं। इस पुस्तक

में जो विषय हैं वे सभी विषयों में समान हैं। इस पुस्तक

में जो विषय हैं वे सभी विषयों में समान हैं। इस पुस्तक

में जो विषय हैं वे सभी विषयों में समान हैं। इस पुस्तक

में जो विषय हैं वे सभी विषयों में समान हैं। इस पुस्तक

में जो विषय हैं वे सभी विषयों में समान हैं। इस पुस्तक

में जो विषय हैं वे सभी विषयों में समान हैं। इस पुस्तक

का पृथगोल्लेख नहीं किया है। भूमि रूप ऊँचा, नीचा प्रदेश, दीवाल, ईँटें आदि मृत्तिका के ही भेद प्रभेद हैं। उपल (शिला) अथवा साधारण पत्थर, मणि, वज्र, हीराकादि पाषाण के विविध प्रभेद हैं। औषधि, उता, वृक्षा, वृक्ष वृक्षा (अवतान) अथवा विटप (पीपल, बड़ आदि) सभी स्थावर रूप पृथिवी हैं।

जल निरूपण

‘अभूत्वाभिसम्बन्धादायः’ इत्यादि वाक्य द्वारा जल का उद्घाटन किया गया है जिसका अर्थ है जलत्व जाति से युक्त जल है अर्थात् ‘यह जल है’ ऐसा व्यवहार करने से जल को उसके सनातीय और विजातीयों से भिन्न ज्ञान ही जल का उद्घाटन है। पृथिवी की भांति जल में भी रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व, स्नेह, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व और संस्कार ये (१४) बौद्ध गुण रहते हैं। पृथिवी में गन्ध गुण विशिष्ट था तथा जल में स्नेह गुण विशिष्ट है। शेष गुण दोनों में समान हैं। पृथिवी की ही भांति जल का भी साधारण धर्म रूप उद्घाटन करते हुए कहते हैं कि — शुक्लममुरजीता एव रूप-रस-स्पर्शः^१।

सातों रूपों में से जल का रूप शुक्ल है। गडरवाँ में से मधुर रस है तथा स्पर्शों में शीत स्पर्श है। जल का शुक्ल रूप ही क्यों है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि यदि जल में किसी अन्य नील रूपादि की प्रतीति होती है तो वह वाक्य रूप उपाधि के भेद से है क्योंकि जब जल को जाकास को उखाड़ते हैं तब केवल वाक्यरहित जल में शुक्ल रूप की प्रतीति होती है। परन्तु यह भी उसका साधारण धर्म

१. पृ० पा० भा०, पृ० ६२.

नहीं हुआ क्योंकि पृथिवी और तेज का वर्ण शुक्ल है । इसके समाधान में कहते हैं तेज का तो भास्वर शुक्ल वर्ण है रही बात पृथिवी की तो उसके स्फटिकादि में अम्भास्वर शुक्ल वर्ण तो है परन्तु वे पृथिवी और तेज दोनों नैमित्तिक द्रवत्व वाले पदार्थ हैं जबकि जल स्वाभाविक द्रवत्व वाला अभास्वर शुक्ल वर्ण वाला पदार्थ है अतः तेज और पृथिवी में इसकी अति व्याप्ति नहीं होगी ।^१ परिणामतः जल का परिष्कृत लक्षण बना कि 'नैमित्तिक द्रवत्व वाले पदार्थों में न रहने वाले अभास्वर शुक्ल वर्ण वाला होता ।'

जल मधुर रस वाला है इसमें भी सत्यता प्रतीत नहीं होता क्योंकि गुड़ या चीनी की तरह जल में माधुर्योपलब्धि नहीं होती । इसके उच्च में कहते हैं कि यह तो सर्वमान्य ध्रुव सत्य है कि जल में रस है और यह भी सर्व स्वीकृत है कि रस है ही है -- इसके अतिरिक्त नहीं । जबकि अम्ल लवणादि अन्य रसों की उपलब्धि जल में नहीं है । परिणामतः मधुर रस ही है परन्तु वह गुड़ और चीनी की भांति उत्कृष्ट रूप में नहीं है अतः जल में माधुर्य की प्रतीति तब न होने से जल में माधुर्य का अभाव सिद्ध नहीं होता ।

जल शीत स्पर्श वाला है । वायु के स्पर्श से भी यद्यपि शीतलता की उपलब्धि होती है परन्तु वायु का शीतस्पर्श पाक्व है । स्वभावात् वायु का स्पर्श अनुवर्णशील है अर्थात् न उष्ण ही है न शीत ही ये दोनों गुण वायु में पाक्व हैं ।

स्नेह गुण भी जल का असाधारण लक्षण है । अतः प्रसस्त पादाचार्य ने 'स्नेहोऽप्यस्यैव' ऐसा वाक्य प्रयुक्त किया है । इस पर यह आपत्ति आती है कि जल की भांति दूध, तैल, आदि में भी तो स्नेह है तब क्योंकि यह जल का ही असाधारण धर्म है ? समाधान करते हैं कि यदि स्नेह जल का ही असाधारण

१. न्या० सि० मुक्तिकावली, पृ० १६५.

धर्म नहीं है तो हँट पत्थर, लूई काठ आदि पार्थिव द्रव्यों में स्नेह की उपलब्धि क्यों नहीं होती, रही बात दूध तैलादि पदार्थों की तो उनमें जो स्निग्धता है जल की ही है। इसकी सिद्धि में एक उदाहरण भी देते हैं कि पानी के अभाव वाले जंगली प्रदेश के वृक्षों में स्निग्धता न होकर रुखाता पायी जाती है जबकि निरन्तर जल से सिंचे जाने वाले प्रदेशों के वृक्षों में स्निग्धता पायी जाती है।

जल का द्रवत्व सांसिद्धिक अर्थात् स्वाभाविक माना गया है। दूध और तैलादि में द्रवत्व आश्रय के सम्बन्ध से है। उनमें द्रवत्व की सांसिद्धिकता प्रतीतिमान है क्योंकि उनमें कभी कठिन्य की भी प्रतीति होती है।

पृथिवी की भाँति जल के भी मुख्यतः दो भेद हैं :

- (१) नित्य
- (२) अनित्य

नित्य जल परमाणु रूप है। अनित्य जल कार्य रूप है। कार्य रूप जल पुनः तीन प्रकार का है --

- (१) शरीर
- (२) इन्द्रिय
- (३) विषय

शरीर

जलीय शरीर केवल अयोनिज ही होते हैं। पार्थिव शरीर तो यौनिज और

१. न्या० क०, पृ० ६३.

२. जब विद्यमौर्धन्यत्वोपलम्भात्। वही, पृ० ६३.

प्रकारके होते हैं

अयौनिज दो परन्तु जलीय शरीर यौनिज नहीं होते । जलीय शरीरों के विषय में वरुणा लोक की कल्पना की गयी है । वस्तुतः यह कल्पना वास्तविकता से बहुत दूर है । मछली कछुआ आदि के शरीर वैज्ञानिक दर्शन शास्त्र में पार्थिव माने गये हैं ।

जिससे प्राणियों को रस का प्रत्यक्ष होता है वह जलीय इन्द्रिय है । रसा भिष्यंजक होने से इस इन्द्रिय का नाम रसना है । रसना रसादि गुणों में से केवल रस की ही ग्राहक है ।

नदी, समुद्र, पाला, बरफ आदि विषय रूप जल हैं ।

तेज निरूपण

पूर्वोक्त जल और पृथिवी के लक्षणों की भांति तेज का भी सजातीय और विजातियों से भिन्न करने वाले शब्द द्वारा लक्षण करते हुए कहते हैं । तेजस्त्वाभि सम्बन्धाच्चैर्ज्ञः अयात् तेजस्त्व जाति युक्त तेज है । यह तेज रूप, स्पर्श, संख्या, पविमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभान, परत्व, अपरत्व, प्रवृत्त और संस्कार इन ग्यारह गुणों से युक्त है । इसके अनन्तर तेज का व्यापारण लक्षण करते हुए कहते हैं कि सप्तविध रूपाँ में से भास्वर सुवर्ण रूप है तथा स्पर्शों में से उष्ण स्पर्श है । तेज में जो कदाचित् ठाठ, पीठे, आदि रूपाँ के दर्शन होते हैं वह सब आश्रयाश्रित तथा औपाधिक हैं ।

तेज भी नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का है पूर्वोक्त की नित्य तेज परमाणु रूप है तथा अनित्य तेज कार्य रूप है । अनित्य-कार्य रूप तेज के पुनः तीन भेद उसी प्रकार हैं :

- (१) शरीर
- (२) इन्द्रिय
- (३) विषय

तैजस शरीर भी जलीय शरीरों की भांति अयोनिज माने गये हैं और वे केवल आदित्य लोक में ही होते हैं। यह बात भी जलीय शरीरों की भांति वर्तमान विज्ञानवादियों को मान्य नहीं क्योंकि सूर्यलोक ग्रीष्मातिशयता के कारण वहां किसी भी प्राणी का अस्तित्व सम्भव नहीं। साथ ही न्याय कन्वलीकार का कथन है कि ऐसी बात नहीं अपितु तैजस् शरीरों में पार्थिव अवयवों के सम्बन्ध से सुख दुःखों के अनुभव की दामता जाती है।^१

हृन्द्ध्य

‘हृन्द्ध्यं रूप व्य जकार’ समस्त प्राणिमात्र को जिससे रूप का प्रत्यक्ष होता है वह हृन्द्ध्य रूप तैज है। इस हृन्द्ध्य का नाम चक्षु (आंख) है। चक्षुसे तैजस होने में भी उसी प्रकार का हेतु है जिस प्रकार का कि जलीय तथा पार्थिवैन्द्रिय के विषय में था चूंकि सभी गुणों^२ के रहते चक्षु केवल रूप का ही ग्राहक है अतः यह तैजस हृन्द्ध्य या हृन्द्ध्य रूप तैज है।

विषय

‘विषय संज्ञकं चतुर्विधम्’ अर्थात् विषय रूप तैज चार प्रकार का है —
(१) भौम, (२) दिव्य, (३) उर्वर्य, (४) आकरज।

(१) पृथिवी (भूमि) से उत्पन्न तैज भौम कहलाता है यथा ऊकड़ी आदि पदार्थ पृथिवी (भूमि) से उत्पन्न होते हैं और ऊकड़ी, रंजनादि के बल से जिस तैज की उत्पत्ति होती है वह भौम कहलाता है। इस प्रकार के अग्नि रूप तैज का ऊर्ध्वगमन

१. पार्थिवानामवयवानां... संयोगविशेषात्... उपभोग दामम्...।

२. रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि...।

...
...
...
...
...
...

...

...
...
...
...
...
...

...

...
...
...
...
...
...

...
...
...
...

स्वभाव है। इस प्रकार के भीम तेज वस्तु के फकाने की, जलाने की, तथा कठोरता दूर कर कोमलता लाने आदि की शक्ति रहती है एवं भीमतेज के कार्यों का वर्णन हुआ।

(२) जहाँ जल ही लकड़ी का कार्य करे वहाँ दिव्य तेज रूप विचर्य होता है। इसमें सूर्य का विद्युत का तेज आता है। ये दोनों ही तेज कुठोक स्थानीय हैं इसलिए भी ये दिव्य हैं।

(३) खाये हुए भोजन को पचाने वाले उदर के तेज को उदर्य कहते हैं। इस प्रकार के तेज का कार्य अन्न को रस, मल, धातु आदि में परिवर्तित करता है।

(४) सुवर्ण आदि आकरज तेज कहलाते हैं। सुवर्ण के तेजस द्रव्य होने में आगम भी प्रमाण है।^१ साथ ही न्याय सिद्धान्त मुक्तावली में बड़े सन्तुलित शब्दों में इसका स्पष्टीकरण यूनं किया गया है कि सुवर्ण में गुरुत्व और पीछापन पार्थिव अंश है परन्तु सुवर्ण इससे भिन्न वस्तु है पार्थिव अंश गुरुत्व तथा पीछापन अत्यन्त अग्नि संयोग होने से नष्ट हो जाता है और जो अत्यन्त अग्नि संयोग होने पर नष्ट नहीं होता, न ही द्रवत्व मुक्त पदार्थ सुवर्ण है। वही आकरज तेज है।

वायु निरूपण

अब तक के द्रव्यों के विवेचन में जिसका चादगुण प्रत्यक्ष ही लक्ष्य है उन्होंने तीन द्रव्यों (पृथिवी जल तेज) का विश्लेषण किया गया। अब चादगुण

१. सुवर्णादीनां तेजसत्वेतावदागमः प्रमाणम् । न्या० क०, पृ० १०९.

प्रत्यक्ष के अविषय रूप द्रव्यों का व्याख्यान प्रारम्भ किया जाता है ।

“वायुत्वाभिसम्बन्धाद्वायुः” वायुत्व जाति के सम्बन्ध से यह वायु है ।^१
इसकी विशेष व्याख्या पहले उक्तार्णों के समान ही है । वायु में स्पर्श, संख्या,
परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, तथा संस्कार ये नौ गुण
रहते हैं । परन्तु वायु का असाधारण उदाण करते हुए कहते हैं कि “स्पर्शाऽस्यानु-
पणाशीतत्वे सत्य पाकजः” अर्थात् “वायु में अपाकज अनुष्ठीतोत् स्पर्श होता
है । तेज तथा जल के स्पर्श भिन्न होने से यह वायु का असाधारण धर्म है ।
वायु के रूप रहित होने में “अरुपिष्वचक्षुषाणि” तथा स्पर्शवान होने में
“वायु स्पर्शवान्”^२ एवं संस्कारवान् होने में “तृणो कर्मवायुः संयोगात्”^३ प्रमाण
है । वायु के संयोग से तृण में क्रिया उत्पन्न होती है । अतः वायु संस्कारवान्
है ।

वायु के दो भेद

वायु के भी अणु और कार्य अर्थात् नित्य और अनित्य दो भेद हैं ।
नित्य वायु केवल परमाणु रूप है तथा कार्य रूप अनित्य के पुनः तीन भेद हैं —
शरीर, इन्द्रिय तथा विषय ।

वायवीय शरीर केवल अयोनिज है और ये वायुलोक में प्रज्जि है । वायव्य
शरीर में पार्थिव अवयवों के संयोग से सुत दुःखादि की अनुभूति सामर्थ्य उत्पन्न
होती है ।

-
१. वै० सु० ४।१।१२.
 २. वै० सु० २।१।४.
 ३. वै० सु० ५।१।१४.

इन्द्रिय रूप वायु का नाम त्वचा है । यह शरीर के सभी अंगों में विद्यमान रहती है । रूपादि गुणों के विद्यमान रहते त्वचा केवल स्पर्श की ग्राहिका होने से यह इन्द्रिय रूप वायु है ।

विषय रूप वायु स्पर्श का वाक्य ही है । स्पर्श, शब्द, धृति और कम्प इन चार हेतुओं से विषय रूप वायु का अनुमान होता है । स्पर्श हेतु तो स्पष्ट ही है क्योंकि पसीना आदि जाने पर वायु स्पर्श होने से उसका प्रत्यक्ष होता है ।

शब्द भी वायु का ज्ञापक इसलिये है कि वायु संयोग से पड़े, तिनके आदि में शुक-शुक शब्द वायुज्ञान का हेतु होता है ।

इसी प्रकार पतल आदि का आकाश में धारण होना (उठरना) वायु ज्ञान का हेतु है । वृक्षादि में कम्पमान स्थिति भी वायु की ज्ञापिका है ।

शरीर, इन्द्रिय और विषय के अतिरिक्त 'प्राण' भी एक उसका भेद माना गया है । योगादि शास्त्र में इसका वर्णन है । शरीर के अन्दर जो वायु है उसे ही प्राण कहते हैं । कार्य भेद होने से प्राण के भी पांच भेद हैं । प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान ।

विषय रूप वायु के भेदादि को उधर उधर जाने में सहायक होना और उसको गिरने न देना आदि कार्य हैं ।

आकाश-निरूपण

'आकाश... एकत्वादपर वाक्य भावे.. ।'

जिस प्रकार पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि का उद्भाजन 'पृथिवीत्वाभि सम्बन्धात्'

१. न्यायकन्दली प्र० पा० भा०, पृ० १४३.

इत्यादि वाक्यों द्वारा उनकी जाति के कथन से किया था उस प्रकार आकाश का उदात्त जाति वाता नहीं हो सकता क्योंकि आकाश काठ, दिशा एक एक ही है। इनमें जाति सूचक 'त्वे' का व्यवहार सम्भव नहीं वरन् आकाश में 'आकाशत्वे' शब्द के आश्रय होने का व्यञ्जक है। यहां 'त्वे' शब्द जाति का सूचक न होकर उपाधि का सूचक है। क्योंकि घटाकाश, मठाकाश, आदि आकाश के औपाधिक भेद हैं वस्तुतः आकाश एक है।

आकाश के शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये छः गुण हैं। तथापि शब्द आकाश का विशेष गुण है क्योंकि वह पृथिवी आदि द्रव्यों में नहीं रहता। जबकि 'शब्द' गुण-अवश्य है और गुण बिना द्रव्याश्रय के रह नहीं सकता। अतः शब्द पृथिवी आदि आठ द्रव्यों का गुण नहीं है फलतः वह आकाश का ही विशेष गुण है।

आकाश में संयोग और विभाग इसलिये कहा गया है कि शब्द आकाश का विशेष गुण है और संयोग और विभाग शब्द का कारण है।^१

आकाश द्रव्य इसलिये है चूंकि उसमें द्रव्य में रहने वाली चीं हेतु विद्यमान है ~~.....~~ गुणवत्त्व ~~.....~~। आकाश में शब्द गुण है अतः वह गुणवान् है, ~~.....~~ ~~.....~~ ~~.....~~ ~~.....~~।

आकाश विभु है परिणामतः महत्परिमाण वाला है। इसमें हेतु देते हुए कहते हैं कि शब्द आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं चूंकि शब्द सभी स्थानों में उत्पन्न है अतः आकाश सर्वत्र व्यापक (महत्परिमाण वाला) है।

१. संयोगाद्विभागात् शब्दान्न शब्द निष्पत्तिः। वे० सू० २।२।३९.

आकाश शरीर तथा आकाश विषय नहीं होते, तत्सम्बन्धी श्रोत्रेन्द्रिय ही मात्र है वह भी आकाश ही है । श्रोत्रेन्द्रिय आकाश से तो बन नहीं सकती क्योंकि आकाश सर्वव्यापक है तथा एक ही है । वह किसी का अव्यव रूप कारण तो हो नहीं सकता । अतः श्रोत्रेन्द्रिय आकाश ही हो सकती है । वस्तुतः मित्र^२ श्रोत्र रूप आकाश अथवा घट भण्डी आकाश केवल आकाश के उपाधि भेद हैं, वास्तविक नहीं ।

काल-निरूपण

कालः परापरव्यतिकरयोगपदायोगपवचिर क्षिप्र प्रत्यय लिङ्गम् ।^१

जो किसी वस्तु के परत्व और अपरत्व के व्यत्यय (वैपरीत्य) प्रतीति तथा उसके एक कालिक या विभिन्नकालिक प्रतीतियों का हेतु है, वह काल है । इस बात को एक दो उदाहरणों से स्पष्ट करते हैं जैसे -- रामचन्द्र कृष्णचन्द्र से बड़ा है या कृष्णचन्द्र रामचन्द्र की अपेक्षा छोटा है । इस उदाहरण में रामचन्द्र में कालिक परत्व बुद्धि होती है और कृष्णचन्द्र में तदपेक्षा अपरत्व बुद्धि होती है । यह रामचन्द्र अमुक देश में उत्पन्न हुआ यह व्यवहार जैसे स्थान ज्ञान के लिये अपेक्षित होता है । जैसे ही यह रामचन्द्र अमुक पड़ी, पर नक्षत्र रूप काल में उत्पन्न हुआ इस प्रकार का सूर्य की गति के अनुकूल व्यवस्था का निर्धारण रात्रि, घड़ी, मुहूर्त, या मिनट, घण्टा, दिन आदि के रूप में काल ही से होता है । इस काल निर्धारण का मुख्य हेतु सूर्य की गति ही है जो कि किसी वस्तु में परस्पर परत्व और अपरत्व रूप बुद्धि का हेतु बनकर काल की हेतु बनती है ।

विलम्बता और शीघ्रता का ज्ञान भी काल ही से होता है । संसार की उत्पत्ति और विनाशों का कारण यही काल है ।^{१,२} सभी पदार्थों में विलक्षणता की प्रतीतियाँ

१. जन्यानां जनका कालः वगतामाश्रयी मतः ।

२. सकीर्त्याणां त्पत्ति स्थिति विनाशहेतुः । न्याय सिद्धान्त मुद्रावली का० ४५, न्यायकन्दली, पृ० १५६.

का कारण भी काल ही है । यद्यपि यह प्रश्न होता है कि सूर्य की गति ही क्यों न इन सब प्रतीतियों का कारण मान ली जाय ? काल की पृथक् कल्पना क्यों की जाय ? इसके उत्तर में कहते हैं -- कि सूर्य की गति का साक्षात् कोई सम्बन्ध परत्व और अपरत्व रूप वृद्धत्व - युवात्व आदि से नहीं है । वस्तुतः लोक व्यवहार तथा साक्षात् सम्बन्ध काल का ही होता है । यथा -- दिनेश अमुक दिन इतने बजे पैदा हुआ । परन्तु सूर्य की गति का व्यवहार नहीं होता । वस्तुतः सूर्य की गति ही काल की जनक है । और काल परत्वापरत्व बुद्धि का हेतु है । असम्बद्ध पदार्थ (सूर्य की गति) को कारण मानने में अतिप्रसंग होगा ।

वस्तुतः काल एक है अतः इसकी जाति नहीं होती ऐसा पहले कहा जा चुका है । तब काल में जाण, लव, निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त, याम, पक्षा, मास, आदि का व्यवहार क्यों कर होता है ? इसके उत्तर में समाधान वही है कि काल तो एक ही है परन्तु ये काल के औपाधिक भेद हैं । रही बात यह कि जब काल एक है तो तन्मूलक प्रतीतियों में अन्तर क्यों है ? इसके समाधान में कहते हैं कि (कारण) सामग्री के भेद से प्रतीतियों में अन्तर होता है । काल की सत्ता न मानने से अत्यन्त असत् वस्तु में सत् का तथा सत् में असत् व्यवहार होने लगेगा । और इनके वाचक शब्दों का भी वैयर्थ्य हो जायेगा । औपाधिक भेदों से काल में संख्या गुण की सिद्धि होती है । काल चूंकि वस्तुओं के संयोग का कारण है। अतः इसमें अन्तर्भाग और विभाग और विभाग गुण की भी सिद्धि होती है । काल में पृथक्त्व गुण की सिद्धि इसलिए है कि काल में एकत्व है । इसके अनुविधान से ही पृथक्त्व है क्योंकि एकत्व के साथ पृथक्त्व का नियत साहचर्य है । संयोग में पर्यवसित स्थिति काल का स्वरूप निर्धारण इस प्रकार है -- 'परापरव्यतिरिक्त योग्यवर्णनपरव्यतिरिक्त प्रत्यय कारणं कालः' अर्थात् जिसके द्वारा हमें परिचय या चिर और क्षीप्रता का ज्ञान होता है वह काल है ।

दिशा-निरूपण

काल के समान दिशा के भी पांच गुण हैं । संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग । इससे पूर्व कि इन पांच गुणों की सिद्धि करें वह भीमांश आवश्यक प्रतीति होती है कि दिशा कहते किसे हैं और वह द्रव्य कैसे है ?

जिस प्रकार कि पूर्वापर तथा योग पथ के ज्ञान का हेतु काल का असाधारण लक्षण है वैसे ही -- 'यह पूर्व है यह पश्चिम है' इस प्रकार की प्रतीतियों का हेतु दिशा नामक द्रव्य है ।^१ क्योंकि मूर्त द्रव्य (परममहत्परिमाण या अणु परिमाण वाले द्रव्यों को छोड़कर) को दूसरे मूर्त द्रव्य से -- यह पूर्व मैं है यह पश्चिम है यह दक्षिण मैं है यह उत्तर मैं है, यह ऊर्ध्व या अवस्थ है इस प्रकार की प्रतीतियों का कारण दिशा ही है अन्य किसी द्रव्य से यह प्रतीति सम्भव नहीं ।

दिक् भी काल के समान एक है इसमें सन्देह है कि पूर्व पश्चिमादि का व्यवहार होते हुए भी दिशा एक क्यों है ?

उत्तर मैं कहते हैं लोक व्यवहार चलाने के लिए दिक् की औपाधिक पूर्व-पश्चिमादि संज्ञाएं की गयी हैं ।^२

वर्तमान काल में दिशा-भेद-ज्ञान तथा उनकी संज्ञाओं का विधान पूर्व की उदित होने वाली दिशा से है जिसमें उदित होता है उसमें पूर्व निश्चय अस्त होता है उत्तर पश्चिम है । शेष अन्य दिशाओं का विधान इसी आधार पर है । जैसा कि

१. प्राच्यादि-व्यवहार-हेतु दिक् । तत्संग्रह.

२. दिशि एकत्वे लोकसंव्यवहारार्थं ---- प्राच्यादिभेदेन दशविधाः संज्ञाः कृताः ।
-- प्रशस्त-पादभाष्य, पृ० १६६.

माना जाता है कि उदयाचल जोकि सूर्य के उदित होने का स्थान है वहां से पीछे यदि कोई प्राणी होता है तो उसके लिए पूर्व दिशा अन्य होगी और अभिमुख सहे होने वाले के लिए पूर्व दिशा अन्य । इस प्रकार सूर्य का संयोग दिशा का हेतु तो अवश्य है परन्तु साक्षात् सूर्य का कोई सम्बन्ध न होने से दिशा का मानना आवश्यक है जोकि एक है और व्यवहार के लिए उसकी औपाधिक भेद कर लिये गये हैं । महर्षिर्या ने दिशा की विविध संज्ञाओं का विधान और स्मृति और लौकिक इन सभी व्यवहारों को अच्छी तरह चलाने के लिये किया है ।^१

आत्मानिरूपण

आत्मत्वाभिसम्बन्धादात्मा । आकाश, काल और दिशा की भांति यह एक नहीं है अपितु वह एक जाति से युक्त है । परमात्मा भी आत्मा की जाति में गृहीत है । कणाद को आत्मा से जीवात्मा ही अभिप्रेत था । स्वर्ग प्रशस्तपाद ने भी परमात्मा का कोई निर्देश नहीं किया । परन्तु जीवराचार्य ने जीवात्माओं के साथ परमात्मा का भी उल्लेख किया है ।^२

जिस आत्मा का तात्त्विक ज्ञान निःश्रेयस् अथवा मोक्ष का कारण है और जिसका विषय ज्ञान संसार का कारण है तथा उसी आत्मा से उपभोग के लिये ये भौतिक संसार है ।

आत्मा का निरूपण शरीर और इन्द्रियों के अधिष्ठाता के रूप में किया

-
१. भुतिश्च... सम्यग्व्यवहारार्थम् ।
 २. तर्कसंग्रह (दयानन्द भाग्य), पृ० ५०.

गया है ।^१ और साथ ही यह तर्क दिया गया है कि करण (शरीर) कर्ता को अपेक्षा रखता है । अर्थात् आत्मा शरीर द्वारा सुख दुःखादि का उपभोग करता है । अतः आत्मा कर्ता है । मुक्तावलीकार ने आत्मत्व-जाति के ईश्वर में होने और न होने इन दोनों ही पक्षों का निरूपण किया है । साथ ही इस बात का उल्लेख भी देते हैं कि ईश्वर में यदि आत्मत्व जाति है तो उसमें सुख दुःख की उत्पत्ति होनी चाहिए ? परन्तु ईश्वर में अदृष्ट आदि निमित्त कारण के न होने से सुख दुःख की उत्पत्ति नहीं होती ।^२

‘मैं सुखी हूँ’ ‘मैं दुःखी हूँ’ इत्यादि प्रतीतियाँ से आत्मत्व की सिद्धि होती है । परन्तु न्याय वैशेषिक सम्प्रदाय ने चार्वाकियों के इस प्रश्न का समाधान कि ‘सुखदुःखादि के वाक्य शरीर इन्द्रिय या मन क्यों नहीं हैं ?’ बड़े दीर्घमित सास्त्रार्थ के रूप में किया है । न्याय कन्दलीकार का अभिप्रेत तत्त्व यहाँ संक्षेपतः दिया जा रहा है ।

चार्वाक मत-पर्यालोचन

शरीर को आत्मा स्वीकार करने वालों का पक्ष है कि -- आत्मा कोई प्रत्यक्ष दृष्ट वस्तु नहीं है । जबकि आत्म तत्त्व को मानने वाले भी सुख-दुःख की उपलब्धि में आत्मा से शरीर का सम्बन्ध स्वीकार करते हैं । परिणाम ‘भोगायतनं शरीरम्’ शरीर को आत्मा के भोग का वायतन मानते हैं । अतः शरीर के साथ सुखादि की उपलब्धि का अन्वय-व्यतिरेक प्रसिद्ध है । शरीर को ही क्यों

-
१. आत्मेन्द्रियावधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम् । -- न्या० सि०, पु० २३८.
 २. अदृष्टादिरूपकारणभावम सुखदुःखादुत्पत्तिः । -- न्या० सि० पु०, पु०

...
...
...
...
...
...
...
...

...
...
...
...
...
...
...
...

...

...
...
...
...
...
...
...
...

...
...
...
...
...
...
...
...

न सुखदुःखादि का सामवायि-कारण मान लिया जाय ? क्या न वह शब्द से शरीर का बोध तथा शरीर ही क्या न आत्मा माना जाय ? संसार में भी साधारण जनों द्वारा शरीर में ही आत्म व्यवहार देखा जाता है ।

आत्मवादी इसका उत्तर देते हैं कि यदि शरीर ही चेतन है या ज्ञान का अधिकरण है तो मृत शरीर को भी 'ज्ञान का अधिकरण' या चेतन मानना पड़ेगा, जबकि मृत शरीर में चेतनता नहीं पायी जाती । वह शब्द का लक्षणा वृत्ति से शरीर में प्रयोग होता है । आत्मा के वाचक को यदि शरीर का धर्म न मानकर चेतनता इन्द्रियों का धर्म माना जाय तो यह भी उसी प्रकार असिद्ध होगा क्योंकि इन्द्रियों के नाश होने पर स्मृति का भी नाश नहीं होता ।^१

मुक्ततावली-कार ने चावर्किज की ओर से प्रश्न उठाकर उसका समाधान इस प्रकार किया है कि 'न्याय वैशेषिकों के मत में मुक्त अवस्था में आत्मा में चैतन्य नहीं रहता, इसी प्रकार हम भी मृतशरीर में चैतन्य का अभाव मान कर काम चला लेंगे । जिस प्रकार प्राणामाव होने से मुक्त अवस्था में आत्मा में ज्ञान का अभाव न्याय-वैशेषिकों के मत में माना गया है । वैसे ही प्राणामाव होने से मृत शरीर में भी चैतन्य का अभाव मानने से शरीर और आत्मा में कोई भेद न रहेगा ।

इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि न्यायवैशेषिक के अनुसार शरीर परिवर्तनशील है उसमें उत्पाद-विनाश की प्रक्रिया चलती रहती है, अतः शरीर वात्स्यायन्या, किशोरावस्था आदि क्रम से वृद्धावस्था की प्राप्ति होता रहता है, अतः चैतन्य,

१. न्यायकण्ठी, पृ० २०४-२०५.

शरीर के बदलते रहने के साथ कैसे परिवर्तित होगा ? क्योंकि विज्ञान विनाशशील वस्तु का गुण भी है । अतः चैतन्य शरीर का धर्म नहीं है, आत्मा का धर्म है ।

इस प्रकार आत्म सिद्धि होने पर उसके गुणों की धीमांसा करते हैं ।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये चौदह गुण आत्मा के माने गये हैं । इन गुणों के होने में कणाद महर्षि^१ के सूत्र प्रमाण है । वैशेषिक सूत्र (३।२।४)^१ के अनुसार बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये हैं गुण आत्मा में होने का प्रमाण उपलब्ध होता है । वैशेषिक सूत्र (६।१।५) के अनुसार आत्मा में धर्म-अधर्म इन दो गुणों की सिद्धि होती है ।^२ इस सूत्र का अभिप्राय है कि एक आत्मा का धर्म रूप गुण दूसरी आत्मा में सुख का उत्पादन नहीं कर सकता है वैसे ही एक आत्मा का धर्म या अधर्म दूसरी आत्मा में धर्म या अधर्म का उत्पन्न नहीं कर सकते । इससे यह सिद्ध हुआ कि धर्म और अधर्म आत्मा के गुण हैं । क्योंकि यदि ये आत्मा के गुण न हों तो जैसे एक आत्मा में रहने वाले सुखादि दूसरी आत्मा में सुखादि उत्पन्न नहीं करते वैसे ही धर्म और अधर्म भी । सूत्र (६।२।६) के अनुसार संस्कार स्मृति का कारण कहा गया है । अतः आत्मा में संस्कार नामक गुण की स्थिति भी सिद्ध हुई । इसी प्रकार 'व्यवस्थातो नाना'^३ के अनुसार आत्मा में संख्या गुण की सिद्धि होती है । साथ ही आत्मार्ज का अनेकत्व भी ।

आत्मत्व जाति या आत्मा के अनेक होने में यह युक्ति है कि एक व्यक्ति के ज्ञान सुख दुःखादि का दूसरे को स्मरण नहीं होता ।

१. प्राणापाननिमेषाभौषणजीवन मनो गतीन्द्रियान्तर विकाराः सुखदुःखेच्छा द्वेष प्रयत्नाश्चात्मनोऽङ्गानि । वै० सू० ३।२।४
२. आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरे कारत्वात् । ६।१।५
३. आत्ममनसौ संयोग विशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः । ६।२।६
४. वै० सू० ३।२।२०.

इस पर यह शंका करते हैं कि जैसे आकाश के एक होने पर भी कणशिवकुली रूप उपाधि से युक्त आकाश से शब्द सुना जाता है वैसे ही आत्मा के एक होने पर भी जिस देह रूप उपाधि से युक्त होकर वह जिन सुखादि का अनुभव करती है उस देह रूप उपाधि से युक्त आत्मा ही उन सुखादि का स्मरण भी करेगी। अतः अनेक आत्माएं मानने की आवश्यकता नहीं।

इसके समाधान में कहते हैं कि आत्मा को एक मान लेने पर^{पर} पूर्व और अर्थ की कोई व्यवस्था नहीं रहेगी, परिणामतः सुखदुःखादि की भी व्यवस्था नहीं होगी।^१ अतः एक आत्मा मानने की तर्क असंगत है। जिस आत्मा के कर्म से जो शरीर उत्पन्न होगा उसी आत्मा के भोग का वायतन होगा, एवं जिस आत्मा के शरीर से जो कर्म सम्पादित होगा, वह कर्म उसी आत्मा का होगा अन्यथा का नहीं, इस प्रकार कर्म और शरीरों की व्यवस्था के लिये आत्माओं का अनेकत्व सिद्ध हुआ।

आत्मा को एक मानने वाले वेदान्तियों की ओर से दूसरा प्रश्न उठाया गया कि जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों के मान लेने से सभी व्यवस्थाएं ठीक हो जाएंगी, शरीर भेदों के अनुसार अनन्त जीव मानने की आवश्यकता नहीं, इस^{पर} वैशेषिकों का -- उत्तर है कि अद्वैत सिद्धान्त दो के मानने पर भी सम्पन्न हो ही गया, अतः आत्माओं का अनेकत्व सांख्यिक शास्त्रों से प्रमाणित होने के कारण सिद्ध है।

आत्मा में पृथक्त्व नामक गुण भी इसलिये है, चूंकि वहां पर संख्या होगी वहां पर पृथक्त्व भी अवश्य होगा। आत्मा में परिमाण नामक गुण

१. ऐकात्म्यं तु वाम्पाविमूर्तमिव व्यवस्थानात्... । -- न्या० क०, पृ० २११

...
...
...
...

...
...
...
...
...
...

...
...
...
...
...
...

...
...
...

इसलिये सिद्ध है क्योंकि आत्मा विभु है^१ और विभु परम महत्त्वरिणाम वाला होता है । वैशेषिक सूत्र (७।२।२२)^२ के अनुसार भी आत्मा का विभुत्व, फलस्वरूप उसमें परिमाण गुण सिद्ध हुआ ।

सुखादि चूंकि किसी न किसी संयोग से उत्पन्न होते हैं अतः संयोग गुण भी आत्मा में सिद्ध हुआ ।

जिसका संयोग होता है उसका विभाग भी अवश्य होता है इस प्रकार आत्मा में विभाग गुण की भी सिद्धि हुई ।

मन निरूपण

“मनस्त्वयोगान्मनः” अर्थात् मनुष्यों की भिन्न भिन्न मनोवृत्तियों के होने से मनस्त्वजातिवाला मन है ।

मन के गुणों का निरूपण करने से पूर्व मन की सिद्धि अवैधान्त है स्मृति इन्द्रिय से उत्पन्न होती है क्योंकि वह भी ज्ञान है वैसे रूप रस आदि का ज्ञान ।

औत्र चक्षु आदि इन्द्रियां स्मृति की हेतु नहीं हैं -- क्योंकि इस ज्ञानादि व्यापार के न रहने पर भी बहरे-व्यभिक्त की भी स्मृति होती है अतः स्मृति की हेतु जो इन्द्रिय है वही मन है ।

सुख आदि के ज्ञान के साधन रूप इन्द्रिय की मन कहा है ।^३ वह प्रत्येक

-
१. जीवात्मा प्रति शरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च । तर्कसंग्रह.
 २. विमवान् महानांकाशस्तथा चात्मा । वै० सू० ७।२।२२.
 ३. सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः । -- तर्कसंग्रह.

आत्मा से सम्बद्ध होने के कारण अनन्त -- परमाणु रूप और नित्य है ।

न्यायकन्दलीकार ने भी सुखादि का प्रत्यक्षा करने वाली इन्द्रिय को मन कहा है और इसमें हेतु दिया है कि सुख दुखादि की उपलब्धि में अन्य वस्तुआदि-इन्द्रियों का व्यापार असम्भव है^१ । इस पर किसी ने प्रश्न किया कि ज्ञान और सुख आदि वस्तुतः एक ही है क्योंकि सबकी उत्पत्ति एक ही सामग्री से होती है अतः क्यों न आत्मा को ही जोकि ज्ञान का अधिकरण है सुख आदि की उपलब्धि का साधन मान लिया जाय ।

उत्तर में कहते हैं कि सुख आदि और ज्ञान एक ही होते तो सुख और दुःख में कोई अन्तर न होता । सुख और दुःख और परस्पर भिन्न हैं अतः वे ज्ञान से भिन्न हैं सुख और दुःख परस्पर सापेक्ष हैं -- परन्तु ज्ञान से निरपेक्ष आनन्द की उत्पत्ति होती है जो तटस्थ वृत्ति वाला है सुख दुःख से रहित है ।

अब मन के गुणों का उल्लेख करते हैं । मन में संख्या, परिमाण, प्रकृत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और संस्कार ये आठ गुण हैं प्रत्येक शरीर में एक एक मन है एकत्व संख्या के रहने से ही मन में संख्या और प्रकृत्व इन दोनों गुणों की सिद्धि होती है ।

तद्वत्त्वावदणुमनः^२ से मन में अणु परमाणु की सिद्धि होती है क्योंकि जो नित्य द्रव्यविभु न हो वह अवश्य ही अणु परिमाण वाला होता है ।

इसमें हेतु देते हैं कि एक जाण में एक आत्मा में अनेक जानों की उत्पत्ति नहीं होती है इससे सिद्ध होता है कि मन विभु नहीं है अगर मन विभु हो तो

१. सुखादि प्रतीति इन्द्रियवा... तदिन्द्रियं तद्वत्तनः, चक्षुरादीनां तत्र व्यापारामावाप् । -- न्या० क०, पृ० २१८.

२. तद्वत्त्वं तै० सु० ७।१।२३.

एक ही जाण में चक्षुरादि अनेक इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध होने के कारण रूप आदि अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति हो जाती है । इससे यह स्पष्ट होता है कि मन जणु परिमाण वाला है और यह भी सिद्ध हुआ कि मन में परिमाण नामक गुण है ।

मन में संयोग और विभाग इन दोनों गुणों की सिद्धि अपसर्पण अर्थात् मन का एक शरीर से हटना तथा उपसर्पण अर्थात् दूसरे शरीर में जाना इन दोनों शब्दों के व्यवहार से होती है । इसमें --^१ उपसर्पणमुपसर्पणमस्ति पीत संयोगाः कार्यान्तर संयोगास्वेत्य दृष्टकारितानि^२ का प्रमाण भी है । मन का अपसर्पण और उपसर्पण अदृष्ट के कारण होता है । मन में चूंकि मूर्तत्व अतः मन में परत्व, अपरत्व और संस्कार इन तीनों गुणों की शुद्धि होती है । मन में क्रिया-शीलता है इससे सिद्ध है कि मूर्तत्व भी है । मन में अज्ञता (अचेतनता) इसलिये मानी गई है कि शरीर का अधिष्ठाता तो आत्मा है जबकि शरीर की प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही एक ही -- चेतन के अनुरोध से होती है और आत्मा चेतन है ही । अतः मन जड़ है । मन करण होने से दूसरों के उपयोग का साधन मात्र है । मन में गुण है अतः यह द्रव्य है । आत्मा के प्रयत्न और अदृष्ट के कारण यह चंचल स्वभाव वाला है ।^३

०

१. वै० सू० ५।२।१७.

२. चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमथितं वलमत्पुद्गलम्.. । गीता.

तृतीय अध्याय

गुण स्वरूप निरूपण

द्रव्य निरूपण के अनन्तर क्रमशः अब गुणों का निरूपण करते हैं। प्रथम गुणों का निरूपण करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि गुण किसे कहते हैं, उसका असाधारण लक्षण क्या है ?

महर्षि कणाद ने प्रथम अध्याय में ही गुण लक्षण का भूत लिखा है कि --

‘द्रव्याश्रयगुणवान् संयोग विभागेष्वाकारणमनपेक्ष उचि गुण लक्षणम् ।’

प्रस्तुत सूत्र में गुण का अतिव्याप्ति, अव्याप्ति आदि दोषों का भूत असाधारण धर्मिक लक्षण प्रस्तुत किया है।

द्रव्याश्रयी

जो पदार्थ स्वभावतः अर्थात् समवाय सम्बन्ध से द्रव्याश्रित हो वह गुण है। गुण का यदि इतना ही लक्षण दिया जाय तो उसमें अतिव्याप्ति नामक दोष

१. पै० पृ० १।१।४६.

महाराष्ट्र

महाराष्ट्र

महाराष्ट्र

महाराष्ट्र

— ७१

महाराष्ट्र

महाराष्ट्र

महाराष्ट्र

महाराष्ट्र

महाराष्ट्र

रहा क्योंकि जितने कार्य द्रव्य है, वे सब समवाय सम्बन्ध से अपने कारण-द्रव्यों में आश्रित रहते हैं। अतः द्रव्याश्रयी गुणों में रहते हुए भी यह लक्षण कार्य-द्रव्यों में भी अतिव्याप्त हुआ। इस दोष को दूर करने के लिये सूत्र में अग्रिम पद है, अगुणवान्।

अगुणवान्

अगुणवान् शब्द में मत्तुप् प्रत्यय के प्रयोग का अभिप्राय है, समवाय-सम्बन्ध से आश्रित। 'अ' निष्ठावार्थक है। अभिप्राय यह हुआ कि -- जिस पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से गुण न रहते हों -- वह गुण है। गुण में समवाय से गुण नहीं रहता, कार्य द्रव्य में रहता है। अतः कार्य द्रव्य द्रव्याश्रयी होता हुआ भी गुणवान् है। परिणामतः कार्यद्रव्य में, गुण के द्रव्याश्रयी-अगुणवान् ऐसा लक्षण होने पर अतिव्याप्ति नहीं हुई।

गुण के लक्षण अगुणवान् ऐसा पद ढालने से कार्यद्रव्य में अतिव्याप्ति का वारण हो गया परन्तु अगुणवान् पद कर्म में अतिव्याप्ति हो गया पुनः अतिव्याप्ति दोष बना ही रहा। इसी निष्ठा के लिये सूत्र में अगुण पद 'संयोग विभागेषु अकारणम्' दिया गया है।

संयोगविभागेष्वकारणम्

अर्थात् द्रव्याश्रित और अगुणवान् होता हुआ संयोग और विभाग की उत्पत्ति में कारण न हो -- वह गुण है। इस पद के ढालने से गुण का लक्षण कर्म में अति व्याप्त नहीं होगा। क्योंकि कर्म अगुणवान् होता हुआ भी संयोग और विभाग का (असमवायि) कारण है। इस पद के ढालने से गुण के लक्षण में अतिव्याप्ति दोष बना रहा। क्योंकि संयोग और विभाग भी संयोगज-संयोग और विभागज-विभाग की उत्पत्ति में कारण हैं। इस प्रकार संयोग और विभाग

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

भी गुण नहीं रहेंगे, और यह लक्षण संयोग और विभाग जोकि गुणों में पड़े गये हैं उनमें अव्याप्त रहेगा। इसके कारणार्थ वगैरह पद डालते हैं -- अनपेक्षाः।

अर्थात् गुण संयोग और अनपेक्षा अकारण है। कर्म संयोग और विभाग की उत्पत्ति में अनपेक्षा कारण है परन्तु गुण सापेक्षावस्था में ही संयोग-संयोग या विभाग-विभाग उत्पत्ति में कारण है सामान्यत्वेन संयोग विभाग की उत्पत्ति कारण नहीं। अर्थात् अनपेक्षित अकारण है।

वाचार्थ प्रशस्तपाद ने भी अन्य प्रकार^{से} इसी मान्यता की पुष्टि की है कि --

रूपादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसम्बन्धो द्रव्या कृतत्वं
निर्गुणत्वं निष्क्रियत्वम्।

इस गुण की परिभाषा में प्रमुखतया गुण के जो लक्षण कहे हैं वे सभी गुणों में समान भाव से रहे हैं।

द्रव्य, गुण, और कर्म इन तीन ही पदार्थों में जाति को स्वीकार किया गया है। द्रव्य और कर्म के अतिरिक्त जो जाति वाला पदार्थ है वही गुण है। रूप आदि सभी गुणों में गुणत्व जाति रहती है। अतः गुण-गुणत्व जाति से सम्बन्धित है।

द्रव्याश्रयित्व और गुणरहितत्व इन दो की विशेष व्याख्या योंही की जा चुकी है।

गुण की निष्क्रियता पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि द्रव्य में गमन आदि की क्रिया होने से रूपादि गुण में भी तो गमनादि क्रिया की प्रतीति

होती है ? उत्तर में कहते हैं कि क्रिया मूर्त द्रव्य में ही रहती है और रूपादि गुण मूर्त द्रव्य नहीं है अतः उनमें क्रिया नहीं रहती । रही बात प्रतीति की सो द्रव्याश्रित होने से गुण में भी क्रिया की प्रतीति होती है । वस्तुतः गुण निष्क्रिय है ।

गुणविभाग निरूपण

वैशेषिका ने चौबीस (२४) गुण माने हैं । जिनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण (माप), पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये सत्रह गुण महर्षि कणाद ने सूत्र में पड़े हैं । शेष सात गुणों का ग्रहण 'वे' पद से माना गया है -- ये सात लोक प्रसिद्ध माने गये हैं । ये हैं -- गुरुत्व, द्रुतत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट (धर्म, तथा अधर्म) एवं शब्द इस प्रकार मिलाकर कुल चौबीस गुण हैं ।

सभी गुणों का पृथक्-पृथक् व्याख्यान करने से पूर्व कौनसा गुण किस द्रव्य में रहता है तथा किस द्रव्य में कितने और कौन कौन से गुण रहते हैं अर्थात् उनके कौन से समान धर्म और क्या वैधर्म्य है, यह स्पष्ट करना उचित प्रतीत होता है ।

द्रव्य नाम	गुण नाम	गुण संख्या
१. पृथिवी --	रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व (नैमित्तिक), द्रुतत्व, गुरुत्व, संस्कार ।	१४

१. रूप रस गन्ध स्पर्शः संख्याः परिमाणानि, पृथक्त्वं संयोगविभागाः ।
परत्वापरत्वौ बुद्धिः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ।

... ..
... ..
... ..
... ..

.....

... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..

... ..
... ..
... ..
... ..
... ..

... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..

२. जल -- रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण,
पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व,
अपरत्व, द्रवत्व, (सांख्यिक) गुरुत्व,
स्नेह, संस्कार (वेग-स्थित-स्थापक दोनों) । १४
३. तैज -- रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व,
संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व-
(नैमित्तिक), संस्कार (वेग नामक) । ११
४. वायु -- स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग,
विभाग, परत्व, अपरत्व, संस्कार (वेग नामक) । ६
५. आकाश-- संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, शब्द । ६
६. काल -- संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग । ५
७. दिक् -- संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग । ५
८. जात्मा-- संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग,
बुद्धि, सुप्त, दुःख, उच्छ्वा, द्वेष्ट, प्रयत्न, वर्म,
अधर्म, संस्कार (भावना नामक) । १४
९. मन -- संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग,
परत्व, अपरत्व, संस्कार (वेग नामक) । ८

यद्यपि तत्तद्गुणों के व्याख्यान प्रकरण में इन गुणों का कथन किया गया है तथापि स्वामीभूत -- उत्कृष्ट, गुण प्रकरण में बोध-सौगन्ध तथा परस्पर गुणों के साधर्म्य वैषम्य ज्ञानार्थ किया गया है ।

रूप-गुण-निरूपण

‘चक्षुर्मात्रं ग्रह्यत्वं’^१ अर्थात् जिसका ग्रहण केवल चक्षु से हो वह रूप कहलाता है । यह रूप -- शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश (काळा) चित्र (चितकबरा) भेद से सात प्रकार का होता है ।

पृथिवी में सातों प्रकार का रूप रहता है ।

जल में अभास्वर शुक्ल (बिना चमक वाला) तथा तेज में भास्वर शुक्ल रूप रहता है । रूप इन तीन ही द्रव्यों में रहता है ।

यहां ‘एव’ शब्द या अन्य प्रकरण ग्रन्थों में ‘मात्र’ शब्द का ग्रहण रूप का लक्षण संख्या में अतिव्याप्त न हो जाय, इसलिये किया गया है क्योंकि संख्या चक्षु ग्राह्य भी है और स्पर्श ग्राह्य भी । साथ ही रूपत्व जाति में भी अति व्याप्ति का निराकरण करता है क्योंकि चक्षु द्वारा रूपत्व का भी ग्रहण होता है परन्तु रूपत्व गुण नहीं है, जाति है ।

सिद्धान्त चन्द्रोदयकार ने कहा कि ‘मात्र’ शब्द का ग्रहण मुख्यतः इसलिये किया गया है कि रूप का यह लक्षण सांख्यिक द्रव्यत्व में न चला जाय । इसका कहना है कि गुण की विशेष गुण मानकर काम चल सकता है मात्र शब्द की आवश्यकता न होगी, परन्तु फिर भी सांख्यिक द्रव्यत्व में अतिव्याप्तिसंशरणार्थ यहाँ मात्र शब्द का बोधित्य है ।

यहां ग्रहण शब्द भी साधारण ग्रहण का ही वाक्य है । यौगिक (कौटिलिक)

१. तैत्तिरीयं गुणानां मध्ये रूपं चक्षुर्मात्रं ग्रह्यते नै-स्त्रिद्वान्तरेण ।

-- न्या० क०, पृ० २५१.

ग्रहण का नहीं ।

रूप के सातवें भेद के विषय में यह शंका की गयी है कि चित्र रूप तो पूर्वोक्त छः भेदों का ही मिश्रण है उसको पृथक् रूप मानने की आवश्यकता नहीं ।

वैशेषिकों के मत में रूप पदार्थ का व्याप्यवृत्ति धर्म है । जबकि एक वस्तु में अनेक रूपों को मानना ठीक नहीं । अतः चित्र को पृथक् रूप मानना उचित है । क्योंकि चित्र (छाँट) वाला कपड़ा भी रूपवाला है । वह कौन से रूप वाला है ? इसका समाधान यही है कि चित्र रूप वाला । अतः इसमें लोके व्यवहार प्रमाण है ।^१

रस-गुण-निरूपण

‘रसो रसनग्राह्यः’ अर्थात् जो गुण रसनेन्द्रिय से ही ग्रहण किया जा सके वह ‘रस’ है । यह रस गुण पृथिवी और जल दो द्रव्यों में रहता है । यह ‘रस’ जीवन, पुष्टि और आरोग्य का कारण है । प्राण के धारण किये रहने का नाम जीवन है । देह के अंगों की यथायोग्य वृद्धि ही ‘पुष्टि’ है । विरोग प्रकार के उत्साह को बल कहा गया है । रोगों के अभाव का नाम ही आरोग्य है । रसनेन्द्रिय रूप द्रव्य में स्थित रस के बाह्य प्रत्यक्ष में भी सहायक है ।

यह रस छः प्रकार का है -- मधुर, सट्टा (अम्ल), लवण (कसीन), कटु, कषाय (कण्ठा), तिक्त (तीखा) यथा मिर्च का स्वाद ।

१. तथा च प्रावाङ्मय प्रवादः स्वं च चित्रं... चित्रात्मनो रूपस्य मायुवसता ।

पृथिवी में कहीं रस रहते हैं तथा जल में केवल मधुर रस रहता है । जल में जो नमकीन आदि का ग्रहण पाया जाता है, वह पार्थिवान्न संयोग से है ।

गन्ध-गुण-निरूपण

‘गन्धो घ्राण ग्राह्यः’ जिस गुण का प्रत्यक्ष (ग्रहण) घ्राणैन्द्रिय से ही वह गन्ध गुण है । यह केवल पृथिवी में रहता है । यह सुरभि (सुगन्धि) और असुरभि (दुर्गन्धि) भेद से दो प्रकार का है ।

स्पर्श-गुण-निरूपण

त्वचा में रहने वाली इन्द्रिय ही त्वगिन्द्रिय है । इस त्वचा इन्द्रिय से ग्रहण होने वाला गुण स्पर्श है । यह, पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चार द्रव्यों में रहता है । स्पर्श गुण रूप के जाग्रतों में अवश्य रहता है । यह शीत, उष्ण, अनुष्ण शीत भेद से तीन प्रकार का है ।

रूप-रस-गन्ध-स्पर्श इन चारों का द्विविधत्व

तथा पाक्य प्रक्रिया निरूपण

‘द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागे ।
यस्य न स्तलिताबुद्धिः तं वैशेषिकं विदुः ॥’

वैशेषिकों की परम्परा में यह कहावत प्रसिद्ध है कि द्वित्व संख्या की उत्पत्ति के प्रकार में पृथिवी परमाणुओं के रूप-रस-गन्ध आदि गुणों की पाक्य उत्पत्ति के प्रकार में एवं विभागे विभाग की उत्पत्ति प्रक्रिया में जिसकी बुद्धि स्तलि नहीं होती वही वैशेषिक शास्त्र का शास्त्र सम्भव है ।

... ..
... ..
... ..

... ..

... ..
... ..
... ..

... ..

... ..
... ..
... ..
... ..

... ..

... ..

... ..
... ..

... ..
... ..
... ..
... ..
... ..

पृथिवीगत गन्ध रस रूप और स्पर्श ये चार गुण पाकज माने जाते हैं ।^१ यद्यपि ये चारों गुण पाकज और अपाकज दोनों प्रकार के हैं तथा नित्य और अनित्य भी हैं । रूप-रस-गन्ध स्पर्श ये चारों पाकज होने से अनित्य ही हैं । अपाकज नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के हैं । नित्य परमाणु रूप द्रव्यों में स्थित ये गुण नित्य हैं तथा अनित्य कार्यरूप द्रव्यों में ये गुण अनित्य हैं । पृथिवी में अग्नि-संयोग से उत्पन्न होने के कारण ये गुण अनित्य हैं तथा जल तेज और वायु में ये गुण स्वाभाविक हैं और नित्य अनित्य दोनों प्रकार के हैं । जल तेज और वायु में गुणों का नित्य रूप उनके परमाणुओं में है और अनित्य रूप कार्यरूप जल तेज वायु में है ।

पाकज और अपाकज का मूल भेद यह प्रतीत होता है कि पृथिवी उष्णता प्राप्त करके अपने गुणों को बदल देती है परन्तु जल वायु और तेज गुणों को नहीं बदलते यद्यपि जल और वायु अग्नि के संयोग से उष्ण हो जाते हैं परन्तु वास्तव में वह उष्णता जल या वायु की नहीं होती अपितु उनके साथ संयुक्त तेज की होती है ।

इस पाकज प्रक्रिया के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों का "पीरुपाक वाद" तथा भैया यिकों का "पिठर पाक वाद" प्रसिद्ध है । पीरुपाक वादी वैज्ञानिकों के मत में परमाणु में पाक होकर रूप आदि परिवर्तित होता है और पिठर पाक वादियों के मत में अवयवी में ही समष्टिगत पाक होकर रूपादि बदलता है । वैज्ञानिकों के अनुसार कच्चे घड़े का काला रंग अग्नि संयोग पाकर, परमाणु से लेकर अणुवादित, क्रम से परिवर्तित होता है । अग्नि पुष्क पुष्क परमाणुओं में पाक उत्पन्न करती है

१. रूपादिबस्तुभ्यं पृथिव्यां पाकजमनित्यञ्च ।

-- तत्संगुह.

इस काल में घट नष्टावस्था को प्राप्त होता है और फिर पाकीपरान्त जुड़ जाता है । इस ध्वस्त होने और पुनः जुड़ जाने की प्रक्रिया का मान हमें इसलिये नहीं हो पाता क्योंकि यह प्रक्रिया अत्यन्त शीघ्रता से होती है ।^१

इस पाकज प्रक्रिया में कतिपय विद्वान् ६ ज्ञाण कतिपय विद्वान् १० ज्ञाण तथा कतिपय ११ ज्ञाण और कुछ केवल ५ ही ज्ञाण का समय स्वीकार करते हैं । नौ ज्ञाण मानने वालों का पाकज प्रक्रियाक्रम इस प्रकार है --

प्रथमे ज्ञाणे - वह्नि संयोगात्कर्म । ततः परमाण्वन्तरेण विभागः । ततः
आरम्भक संयोग नाशः । ततो द्युण्णुक नाशः ।

द्वितीये ज्ञाणे -- परमाणौ श्यामादिनाशः ।

तृतीये ज्ञाणे -- ततो रजताद्युत्पत्तिः ।

चतुर्थे ज्ञाणे -- द्रव्यारम्भानुसृणुक्रिया ।

पंचमेज्ञाणे -- ततो विभागः ।

षष्ठे ज्ञाणे -- पूर्व संयोग नाशः ।

सप्तमे ज्ञाणे -- तत आरम्भकसंयोगः ।

अष्टमे ज्ञाणे -- द्युण्णुकोत्पत्तिः ।

नवमे ज्ञाणे -- रजताद्युत्पत्तिः ।

जो विद्वान् दश ज्ञाण के समर्थक हैं वे विभागज विभाग को मानते हैं । वे तीसरे ज्ञाण की प्रक्रिया के अनन्तर "वह्निनाशनं अन्य परमाणुकर्मणोनाशः" और जोड़ देते हैं ।

१. देखिए -- न्यायकन्दली, पृ० २५७ से २६२.

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १ ॥
अथ श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रीकृष्ण उवाच ॥
अर्जुन ! त्वं कुरु युद्धम् ॥ २ ॥

अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ ३ ॥
अर्जुन ! त्वं कुरु युद्धम् ॥ ४ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ ५ ॥

- अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ ६ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ ७ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ ८ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ ९ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ १० ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ ११ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ १२ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ १३ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ १४ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ १५ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ १६ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ १७ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ १८ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ १९ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ २० ॥

अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ २१ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ २२ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ २३ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ २४ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ २५ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ २६ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ २७ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ २८ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ २९ ॥
अथ श्रीकृष्ण उवाच ॥ ३० ॥

जो विद्वान् ग्यारह जाण के समर्थक हैं उनके मतानुसार प्रथम प्रक्रिया के अनन्तर एक विभाग और होता है उसके पश्चात् ही श्याम्किादिनाश होता है ।

प च जाण प्रक्रियानुयायी उपर्युक्त नवमजाण प्रक्रिया के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ जाण तक की प्रक्रिया को समान स्वीकार करते हैं और पंचम जाण में ही रक्ताद्युत्पत्ति स्वीकार करते हैं ।

पिठरपाकवादी नैयायिकों का कहना है कि यदि प्रथम घट नष्ट हो जाता है और नया घट बनता है तो हम उसे उसी घट के रूप में नहीं पहचान सकते जबकि सारी पीलुपाकवादी पाकज प्रक्रिया के अनन्तर भी घट उसी रूप में पहचाना जाता है । घट में संयोगनाश (विभाग) तथा संयोग की पुनरुत्पत्ति मानने से आमघटगत रसारां सथा चित्र भी नष्ट हो जाने चाहिए किन्तु वे यथावत् पाकान्तरान्त भी उपलब्ध होते हैं । इस प्रक्रिया का एक दोष यह भी है कि बाँवे में घट एक दूसरे के ऊपर रखे होते हैं । विभाग की अवस्था में नीचे के घटगत परमाणु विभक्त होने से ऊपर रखे पात्र गिर जायेंगे और भग्न हो जायेंगे इस प्रकार विनष्ट संयोग की पुनरुत्पत्ति अप्रमाणिक है ।

इसका प्रत्युत्तर पीलुपाकवादी वैशेषिक विद्वान् इस प्रकार देते हैं कि यदि घट में से सुई द्वारा कुछ परमाणु निकाल भी लिए जायें तब भी वह घट वही स्वरूप में अवस्थित रहता है । द्वितीय तर्क है कि घट के आन्तरिक परमाणु अग्नि स्पर्श किये बिना कैसे रूप बदल सकते हैं ।

नैयायिक पाक प्रक्रिया में समष्टिगत पाक (पिठरपाक) को स्वीकार करते हैं । उनके मत में इसमें विभाग और संयोग की पुनरुत्पत्ति की कोई आवश्यकता नहीं ।

पाकज-प्रक्रिया-सिद्धान्त कोई भी हो दोनों में पृथिवी में पाकज गुण अनित्य माना गया है ।

... ..
... ..
... ..

... ..
... ..
... ..

... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..

... ..
... ..
... ..
... ..

... ..
... ..
... ..
... ..
... ..

संख्या-गुण निरूपण

‘एकादि व्यवहार हेतुः संख्या’^१ । जिससे यह एक है ये दो हैं ये तीन हैं इस प्रकार व्यवहार चले, वह संख्या नामक गुण है । यह संख्या नवीं द्रव्या में रहती है ।

यह एक से लेकर पराद्ध पर्यन्त अनन्त प्रकार की है । इसमें एकत्व संख्या अपने वाक्य के अनुसार नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की है । उदाहरण के लिये घट अनित्य है उसमें रहने वाली एकत्व संख्या अनित्य हुई तथा वाकाश नित्य है अतः उसमें रहने वाली एकत्व संख्या भी अनित्य है किन्तु द्वित्वादि संख्याएं सर्वथा अनित्य ही हैं भले ही उनमें वाक्य नित्य हों अथवा अनित्य । इसका कारण है कि द्वित्वादि संख्याओं की उत्पत्ति उन व्यक्तियों की बुद्धियों से है जो वस्तु को देखकर द्वित्वादि का व्यवहार करते हैं । उदाहरणार्थ -- किसी व्यक्ति को दो वस्तुओं में से प्रत्येक में -- ‘यह एक है - यह एक है’ इस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न होती है उसी स्थिति में दो एकत्वों की बुद्धि, द्वित्व बुद्धि का कारण बनती है । इसी प्रकार अन्य एकत्व बुद्धि, त्रित्वादि बुद्धियों का कारण है । अतः, द्वित्व, त्रित्वादि सभी संख्याओं की उत्पत्ति, अन्य एकत्व बुद्धि की अपेक्षा रहती है । अतः अयमेकः, अयमेकः इस प्रकार की बुद्धि अपेक्षा बुद्धि कहलाती है जो द्वित्वादि की जनक (निमित्त कारण है) द्वित्वादि के समवायिकारण के द्रव्य हैं जिनमें द्वित्वादि संख्या उत्पन्न होती है । ये सभी बुद्धियां जाणिक हैं । अतः अपेक्षा बुद्धि भी जाणिक है । अतः इस प्रकार की

१. प्रसस्तपादभाष्य, पृ० २६०.

काणिक बुद्धियाँ से उत्पन्न होने वाली सभी संख्याएं अनित्य हैं । भाषा परिच्छेद में यह प्रक्रिया निम्नतया की गयी है :

‘तत्र प्रथम इन्द्रियार्थ सन्निकर्णः । तस्मादेकत्वं सामान्य ज्ञानम् । ततो पैदाया बुद्धिः । ततो द्वित्वोत्पत्तिः । ततो द्वित्व सामान्य ज्ञानम् । तस्माद् द्वित्व गुणज्ञानम् । ततः संस्कारः ।’

यह अपेक्षा बुद्धि द्वित्व-गुण-बुद्धि के बन जाने पर समाप्ता हो जाती है -- यह अपेक्षा बुद्धि तीन काण के लिये रहती है । इसी प्रकार द्वित्व-गुण-बुद्धि भी तीन काण के बाद समाप्त हो जाती है ।

वैशेषिकों के अनुसार समस्त ज्ञान विमु आत्मा का गुण होने से अपने अपने कार्य को उत्पन्न करने के अनन्तर विनष्ट हो जाती है ।

परिमाण-गुण-निरूपण

‘परिमाण मान व्यवहार कारणम्’ अर्थात् नाप-तौल के व्यवहार का असाधारण कारण ही परिमाण नामक गुण है । यह परिमाण गुण नवों डुव्यों में रहता है ।

यह परिमाण गुण चार प्रकार का है --

(१) अणु, (२) महत्, (३) दीर्घ, (४) सूक्ष्म । ये चार प्रकार

के परिमाण भी प्रत्येक दो प्रकार के हैं --

(१) मध्यम, (२) परम ।

परम + अणु (परमाणु) को सबसे सूक्ष्म है इसी सूक्ष्मता वैशेषिक शास्त्र में एक पारिभाषिक नाम पारिमाण्डित्य है । यह परम सूक्ष्मता का उदाहरण है ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

द्वयणुक मध्यमाणु का उदाहरण है। जाकास परममहत्परिमाण वाला विभु है। तथा सम्पूर्ण दृश्य जगत् के पदार्थ मध्यम महत् के उदाहरण हैं। दीर्घ और ह्रस्व एक जायाम में परिमाण देते हैं जैसे यह रेखा दीर्घ, अति दीर्घ या ह्रस्व है। ये दोनों सापेक्ष हैं।

यह परिमाण भी अपने बाह्य भेद से नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का है। पारमाण्डित्य (परमाणु) और विभुत्व नित्य हैं। शेष सभी परिमाण अनित्य हैं।

अनित्य परिमाण भी तीन प्रकार का है। अर्थात् तीन कारणों से उत्पन्न होता है :

- (१) अवयवों के परिमाण से।
- (२) अवयवों की संख्या से।
- (३) (अवयवों के प्रशिथिल संयोग रूप) प्रत्य से।

(१) दोनों कपालों रूप अवयवों के परिमाण से घट में परिमाण की उत्पत्ति होती है।

(२) उसी परिमाण के तीन कपालों से जिस घट की उत्पत्ति होती है, उस घट का परिमाण दो कपाल वाले घट से भिन्न होगा। इस भिन्न परिमाण का कारण तीनों कपालों का परिमाण तीनों कपालों का परिमाण न होकर त्रित्व संख्या द्वारा उसका परिमाण बीच होने से इसे संख्या जन्म कहा जाता है।

(३) प्रत्य भी परिमाण का कारण है। इसी कारण एक किलो लौहे की लम्बाई चौड़ाई और एक किलो रुई की लम्बाई चौड़ाई में अन्तर उपलब्ध होता है। यह अन्तर अवयवों के परिमाण अथवा अवयवों की संख्या द्वारा नहीं जाने जाती। रुई की माप तोल के परिमाण का कारण प्रत्य है। अवयवों के शिथिल संयोग को ही प्रत्य कहते हैं।

पृथक्त्व-गुण-निरूपण

‘पृथक्त्वमपीदं व्यवहारकारणम्’ अर्थात् घट से पट पृथक् है, मिट्टी से लोहा पृथक् है, ‘यह इससे पृथक् है’, इस प्रकार की प्रतीति जो गुण कराये वह पृथक्त्व नामक गुण है ।

यह सभी द्रव्यों में रहता है । उपर्युक्त उदाहरण में अपिदं शब्द बाया है इसका अभिप्राय है -- ‘एक पदार्थ को शेष सब पदार्थों से पृथक् रूप में पहचानना या निर्धारण करना ।’^१

पृथक्त्व न केवल अन्योन्याभाव की भांति घट पट की पृथक्ता स्पष्ट करता है अपितु वह वस्तुतिष्ठ पृथक्ता का बोध भी है । यथा -- यह घट वह नहीं है, वह घट इस घट से भिन्न या पृथक् है ।

संयोग-गुण-निरूपण

संयोगः संयुक्त प्रत्यय निमित्तम् । ‘यह वस्तु इससे जुड़ी हुई है’ इस प्रकार के व्यवहार का असाधारण कारण संयोग नामक गुण है ।

संयोग गुण भी सभी द्रव्यों में रहता है । बाचार्य प्रसन्नपाद संयोग पुनः उदाहरण करते हुए लिखते हैं कि -- अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः अर्थात् परस्पर न मिले हुए दो पदार्थों का मेल ही संयोग है । भाषा परिच्छेद में भी इसी प्रकार की परिभाषा दी गयी है ।^२

यह संयोग तीन प्रकार का माना गया है --

१. अपवृत्त्यामवधिमेव य उद्धारो निर्धारणं सः ।

-- तत्संग्रह (भारवि), पृ० ७२.

२. अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः तैव संयोगो वर्तितः ।

-- भाषा परिच्छेद - ११५.

१. अन्यतर कर्मज संयोग ।

२. उभय कर्मज संयोग ।

३. संयोगज संयोग ।^१

(१) क्रियाशील द्रव्य तथा निष्क्रिय द्रव्य का संयोग अन्यतर कर्मज संयोग कहलाता है । उदाहरणार्थ जैसे पक्षी और पर्वत का संयोग, क्योंकि इसमें पक्षी शक्ति करता है अतः वह क्रियाशील द्रव्य हुआ और पर्वत निष्क्रिय द्रव्य इस प्रकार पक्षी और पर्वत का अन्यतर कर्मज संयोग हुआ । विभु द्रव्यों का मूर्त द्रव्य के साथ संयोग भी अन्यतर कर्मज संयोग है ।

(२) जहाँ दोनों द्रव्य क्रियाशील हों, वहाँ उभयकर्मज संयोग होता है । जैसे -- दो पाँक्तियाँ का संयोग, या दो लड़ते हुए पहलवानों का संयोग । यहाँ चूँकि दोनों संयुक्त द्रव्य क्रियाशील हैं । अतः यहाँ उभयकर्मज संयोग है ।

(३) संयोग से जो संयोग उत्पन्न हो, वह संयोगज संयोग है । उदाहरणार्थ -- हाथ का पुस्तक के साथ संयोग कर्मज संयोग है परन्तु हाथ का पुस्तक से संयोग होने पर इस संयोग से जो पुस्तक का शरीर के साथ संयोग होगा वह संयोगज संयोग कहलाता है ।

यह संयोगज संयोग भी दो प्रकार का है --

१. ऐसा संयोगज संयोग जो सवनात पदार्थ से होता है । जैसे कार्य का अपने उपादान कारण में रहने वाले पदार्थ से जो संयोग होता है, वह संयोगज संयोग होता है ।

१. स च त्रिविधा - अन्यतर कर्मज, उभयकर्मज, संयोगजश्च ।

-- प्रशस्तपाद भाष्य, पृ० ३४७.

२. दूसरा पूर्व से विद्यमान पदार्थ का संयोग, जैसे हाथ का पैड़ को स्पर्श करने पर पैड़ का शरीर के साथ संयोग भी संयोगज संयोग होता है ।

सभी प्रकार के संयोग पदार्थ के एक अंश में व्याप्त होते हैं अतः ये सभी संयोग 'अव्याप्य वृत्ति' कहे जाते हैं । तथा सभी संयोग अनित्य होते हैं, क्योंकि आश्रय के नाश से नष्ट हो जाते हैं ।

संयोग के अन्य दो प्रकार और भी हैं --

(१) नौदन

(२) अभिघात

नौदन संयोग वह होता है जिससे शब्द की उत्पत्ति न हो । जिस संयोग से शब्द की उत्पत्ति हो वह अभिघात संयोग कहलाता है ।

विभाग-गुण निरूपण

'विभागो विभक्त प्रत्यय निमित्तम् ।' की संयुक्त द्रव्या के संयोग के नाश करने वाले गुण को विभाग कहते हैं । विभाग गुण भी सभी द्रव्या में रहता है ।

संयोग के अभाव की ही विभाग नहीं माना जाता, अपितु विभाग एक पृथक् गुण है क्योंकि विभाग संयोग का नाशक गुण है । इसी कारण का स्पष्टीकरण तर्क-संग्रहकार ने अपने विभाग उदाहरण में किया है । विभाग संयोग नाश का कारण है -- स्वयं संयोग नाश नहीं है । विभाजन क्रिया भी विभाग नहीं है

१. संयोग नाशक गुणो विभागः । तर्कसंग्रह.

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

क्योंकि प्रथम विभाजन किया होती है फिर विभाग होता है। जैसे एक स्थान से किसी पुस्तक को हटाते समय पहले हटाना रूप कर्म होता है। फिर उस स्थान से पुस्तक अलग हो जाना विभाग कहलाता है।

विभाग के भी संयोग के समान ही तीन भेद हैं :

१. अन्यतर कर्मज विभाग।
२. उभय कर्मज विभाग।
३. विभागज-विभाग।

(१) पर्वत से पक्षी का विभाग केवल पक्षी में रहने वाली क्रिया से उत्पन्न होने से यह अन्यतर कर्मज विभाग है।

(२) परस्पर चिमटे हुए दो पहलवानों का अलग-अलग होना उभय कर्मज विभाग है, क्योंकि दोनों पहलवानों का विभाग, दोनों पहलवानों में स्थित दो अलग-अलग क्रियाओं से उत्पन्न होता है।

(३) जब संयोगज-संयोग माना गया है तो विभागज-विभाग भी मानना आवश्यक है। विभाग से उत्पन्न होने वाला विभागज विभाग होता है। विभागज-विभाग में दो विभाग होते हैं। प्रथम हाथ का पुस्तक से विभाग, दूसरे हाथ से विभक्त होने से शरीर का पुस्तक से विभाग। शरीर का पुस्तक से विभाग, विभागज विभाग है। पहले विभाग का असमवायि कारण तो कर्म ही रहता है परन्तु दूसरे विभाग का असमवायि कारण विभाग ही होता है अतः यह विभागज विभाग कहलाता है। विभागज-विभाग भी दो प्रकार का माना गया है --

१. कारणमात्रजन्य।
२. कारणाकारण विभागजन्य।

कारणमात्रविभागज उसे कहते हैं, जिस विभाग की उत्पत्ति ही, उस विभाग के समवायि कारण रूप द्रव्यों के ही विभाग से जो विभाग उत्पन्न हो।

कारणाकारणविभागजविभाग -- उदाहरण से इसे स्पष्ट करते हैं ।

यथा -- एक व्यक्ति का हाथ वृक्ष से ~~वृक्ष~~ संयुक्त है । मनुष्य की इच्छा तथा प्रयत्न से हाथ वृक्ष से पृथक् हो जाता है अर्थात् हाथ और वृक्ष का विभाग हो जाता है । हाथ मनुष्य शरीर का अवयव होने से शरीर का समवायि कारण है तथा वृक्ष हाथ का अ-कारण है । इनका (कारणाकारण का) विभाग (हाथ और वृक्ष का विभाग) से शरीर वृक्ष विभाग का अनुभव होता है । इस प्रकार यह कारणाकारण विभागज है । यह विषय ~~के~~ वैशेषिक शास्त्र में बुद्धि व्यायाम का विषय माना जाता है । यहां इसका सूत्र रूपेण ही निर्देश किया गया है ।

परत्वापरत्व-गुणद्वयनिरूपण

‘परत्वमपरत्वं च परापराभिमान प्रत्यय निमित्तम् ।’ इससे यह पर (दूर अथवा ज्योष्ठ) है; इस प्रकार के शब्द और व्यवहार का असाधारण कारण परत्व-गुण है तथा इससे यह अपर (समीप अथवा कनिष्ठ) है, इस प्रकार के शब्द और व्यवहार का असाधारण कारण अपरत्व गुण है ।

परत्व और अपरत्व इन दोनों के ही दो भेद हैं --

१. दिशा कृत (दिशामूलक) परत्व तथा अपरत्व ।
२. काल कृत (काल मूलक) परत्व तथा अपरत्व ।

दिशामूलक परत्व और अपरत्व की प्रक्रिया

एक दिशा में स्थित दो पिण्डों में एक इसकी अपेक्षा समीप है इस ज्ञान से संयुक्त दिशा और पिण्ड के संयोग से पिण्ड में अपरत्व उत्पन्न होता है ।

इसी प्रकार दूर स्थित पिण्ड में यह उसकी अपेक्षा दूर है यह ज्ञान परत्व की उत्पन्न करता है ।

कालमूलक परत्वापरत्व की प्रक्रिया

काल मूलक परत्वापरत्व के ज्ञान के लिये ज्येष्ठता और कनिष्ठता का व्यवहार किया जाता है। जैसे देवदत्त यज्ञदत्त से बड़ा है। यहाँ देवदत्त में यज्ञदत्त की अपेक्षा ज्येष्ठ काल कृत परत्व बुद्धि उत्पन्न होती है अतः ज्येष्ठता के व्यवहार में परत्व तथा यज्ञदत्त छोटा है इसमें अपरत्व की अपेक्षा बुद्धि होती है। ये दोनों शब्द ज्येष्ठ और कनिष्ठ सापेक्षा हैं अतः इनमें अपेक्षा बुद्धि से परत्वापरत्व का निर्धारण होता है। देवदत्त में ज्येष्ठता (परत्व) तथा यज्ञदत्त में कनिष्ठता (अपरत्व) काल के कारण है अतः यह परत्व और अपरत्व-काल-मूलक या कालकृत कहलाता है।

ये परत्व और अपरत्व गुण पृथिवी अरु, तेज और वायु तथा मन इन पाँच मूर्त द्रव्यों में रहते हैं। चूंकि मन नित्य है अतः उसमें काल कृत परत्व और अपरत्व नहीं रहता। पृथिवी आदि चार अनित्य और मूर्त हैं अतः उनमें विकृत तथा कालकृत दोनों प्रकार के परत्वापरत्व रहते हैं। आकाश, काल, विशा, तथा आत्मा चूंकि नित्य तथा अमूर्त हैं अतः उनमें परत्वापरत्व गुण नहीं रहते।

परत्वापरत्व के विनाश के घात कारण हैं --

१. कहीं अपेक्षा बुद्धि के नाश से
२. कहीं संयोग के नाश से
३. कहीं द्रव्य के नाश से
४. कहीं द्रव्य-बुद्धि के युगपद नाश से
५. द्रव्य और संयोग इन दोनों के विनाश से
६. कहीं संयोग और अपेक्षा बुद्धि के नाश से
७. कहीं समवायि कारण, असमवायि कारण तथा निमित्त कारण तीनों के नाश से।

बुद्धि-गुण-निरूपण

आचार्य प्रशस्तपाद ने बुद्धि को ज्ञान, उपलब्धि और प्रत्यय इनका पर्यायवाची बताया है अर्थात् बुद्धि उपलब्धि, ज्ञान और प्रत्यय ये सभी शब्द अभिव्यक्ति एक ही अर्थ का बोध कराते हैं ।^१ तर्क-संग्रहकार जन्नं भट्ट ने बुद्धि-वह-गुण माना है जो सब व्यवहारों का हेतु है औरवही ज्ञान है ।^२

बुद्धि की युक्तियुक्त तथा विवेचनपूर्ण परिभाषा सप्तपदाओं की प्रतीत होती है -- 'वात्माश्रयः प्रकाशः ।' आचार्य जिन वर्द्धन ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है -- 'अज्ञानान्वयकारतिरस्कारकारकसकलपदार्थस्थार्थ प्रकाशः प्रदीप इव देदीप्यमानो यः प्रकाशः सा बुद्धिः ।' अर्थात् ज्ञान एक ऐसा प्रकाश है जो अज्ञान के अन्वयकार को दूर करके समस्त पदार्थों को प्रकाशित कर देता है । चूंकि वात्मा ज्ञान का अधिकरण है और बुद्धि उसका प्रकाशक गुण ज्ञान रूप है । सभी आचार्यों ने जोकि न्याय वैशेषिक शास्त्र के प्रकरण ग्रन्थों के प्रणेता हैं -- बुद्धि को ज्ञानवाची स्वीकार किया है ।

आचार्य प्रशस्तपाद ने बुद्धि के प्रमुख दो भेद माने हैं :

- (१) विद्या (यथार्थ ज्ञान)
- (२) अविद्या (अव्याय) ज्ञान

विषय अनन्त होने से यद्यपि बुद्धि भी अनन्त प्रकार की है, तथापि संतोषतः उपर्युक्त दो भेद हैं ।

इनमें अविद्या चार प्रकार की है :

- | | |
|------------|--------------|
| १. संशय | ३. अनध्यवसाय |
| २. विपर्यय | ४. स्वप्न |

-
१. बुद्धिरुपलब्धिकारि प्रत्यय इति पर्यायः । प्र० पा० भा०, पृ० ४१०
 २. सर्वव्यवहारहेतुबुद्धिज्ञानम् । तर्कसंग्रह.

1907-1908

... ..
... ..
... ..
... ..

... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..

... ..

(1907-1908)

(1907-1908)

... ..
... ..

... ..

... ..

... ..

संशय

किन्हीं दो वस्तुओं के साधारण धर्म के ज्ञात होने से उनमें -- 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस प्रकार का उभय कौटिक ज्ञान संशय कहलाता है। यह संशय भी दो प्रकार का होता है।

(क) अन्तः संशय ।

(ख) बहिरसंशय ।

(क) किसी ज्योतिषी का कहा हुआ कथन एक बार सत्य निकला और दूसरी बार या तीसरी बार मिथ्या। चौथी बार ज्योतिषी के कहे हुए फालादेश से उत्पन्न हुए ज्ञान में 'यह सत्य है या झूठ' इस प्रकार का संशय अन्तः संशय है।

(ख) बहिर संशय भी दो प्रकार है --

(अ) जिसके विषय प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा गृहीत हो सके।

(ब) एवं जिसके विषय प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा गृहीत न हो सके।

(अ) प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत जैसे -- स्थाणुर्वा पुरुषो वा। दोनों की ऊँचाई समान टेढ़ापनादि समान होने से।

(ब) अप्रत्यक्ष द्वारा गृहीत जैसे -- जंगल में किसी पशु का पैरु सींग दिखाई दिया -- जिससे यह संशय उत्पन्न होता कि यह सींग वाला पशु गाय है या हिरण है या बैल है ?

तर्क-भाषाकार ने भी संशय के तीन भेद माने हैं।^१

विपर्यय

विपर्यय भी प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा गृहीत विषय में होता है।
जिन दो वस्तुओं के असाधारण धर्मों का ज्ञान है उन दोनों में से एक वस्तु में
दूसरी वस्तु का ज्ञान विपर्यय ज्ञान है।

विपर्यय ज्ञान की उत्पत्ति -- यथार्थ ज्ञान के अभाव, आत्मा और मन के
संयोग एवं अधर्म इन तीन हेतुओं से होती है। 'गो में अश्व का ज्ञान विपर्यय
ज्ञान है'। प्रशस्त पादाचार्य ने वेदव्यो (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) के विरुद्ध
मत वाले बौद्धादिकों के शास्त्रों में बताये गये 'मोटा के कारणा' की विपर्यय ज्ञान
की कोटि में रखा है।

अनध्यवसाय

अनध्यवसाय भी प्रत्यक्ष और अनुमान से गृहीत विषयों में होता है।
किसी विशेष कारण से अभिभूत पुरुष का 'यह क्या है?' इस प्रकार का
ज्ञान अनध्यवसाय है। जैसे -- 'भार से अभिभूत या साधियों की बातों (गप्पों)
में अनुरक्त व्यक्ति का पहचाने हुए वृद्ध या पदार्थ के विषय में 'यह क्या है?'
इस प्रकार का ज्ञान होना अनध्यवसाय कहलाता है।

स्वप्न

मनुष्य के इन्द्रियाँ सख्त प्रतीत होने पर, केवल मन रूप इन्द्रिय में जो
ज्ञान होता है उसे स्वप्न कहते हैं। यह स्वप्न ज्ञान भी तीन प्रकार का है :

- (क) संस्कार की पटुता से उत्पन्न।
- (ख) धातु के दौण से उत्पन्न।
- (ग) अदृष्ट से उत्पन्न।

सामान्यतः मनुष्य जिस बात का अधिक ध्यान रखता है या जिस वस्तु देखने से मन पर प्रबल संस्कार पड़ता है वही वस्तु या बात उसे स्वप्न में दिखाई देती है । इस प्रकार के स्वप्न संस्कार की प्रबलता से उत्पन्न होते हैं ।

धातु दोष से अभिप्राय आयुर्वेद शास्त्र प्रणीत 'वात' 'पित्त' 'कफ' के दोष से है । 'वात' दूषित व्यक्ति को आकाश में उड़ने के स्वप्न अधिक आते हैं । 'पित्त' दूषित व्यक्ति को अग्नि सम्बन्धी स्वप्न तथा 'कफ' दूषित व्यक्ति को जल सम्बन्धी स्वप्न आते हैं । ये सभी स्वप्न धातु दोष से विस्तार देते हैं ।

यथार्थज्ञान (विद्या) भी चार प्रकार की है --

- | | |
|---------------|-----------|
| १. प्रत्यक्षा | ३. स्मृति |
| २. ऐहिक | ४. बाण |

१. प्रत्यक्षा --

अक्षमक्षां प्रतीत्योत्पद्यते यज्ज्ञानं तत्प्रत्यक्षान् । यहाँ 'अक्ष' स्वप्न का अभिप्राय इन्द्रिय है ।^१ अर्थात् इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्षा है । (१) नासिका, (२) रसना, (३) चक्षु, (४) त्वचा, (५) श्रोत्र तथा (६) मन इनसे बाह्यविषय सन्निकर्ष विषय के साथ होकर विषय का प्रत्यक्षा होता है ।

यह प्रत्यक्षा, द्रव्यादि पदार्थों का 'निरविकल्प' और 'सविकल्प' भेद से दो प्रकार का होता है ।

१. अक्षीणी प्रियाणि, प्र० पा० भा० पृ० ४४२.

... ..
... ..
... ..

... ..
... ..
... ..
... ..
... ..

... ..

...	...
...	...

... ..

... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..

... ..

निर्विकल्पक प्रत्यक्षा -- नाम जात्यादि-योजना-हीन अर्थात् विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध-रहित ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्षा का विषय होता है । जैसे --
‘यह कुत्ता है ।’

सविकल्पक प्रत्यक्षा -- नाम-जाति-विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध युक्त ज्ञान सविकल्पक-प्रत्यक्षा का विषय है । जैसे -- यह डित्थ है, यह ब्राह्मण है इत्यादि प्रकारक ।

२. लैंगिक (अनुमान)

‘लिंगदर्शनात् स जायमानं लैङ्गिकम्’ ।

लिंग का अभिप्राय है हेतु, उससे (हेतु से) उत्पन्न होने वाला ज्ञान लैंगिक या अनुमान-मय ज्ञान है । यह लिंग प्रकरण ग्रन्थों में तीन प्रकार का माना गया है --

(१) अन्वय व्यतिरेकित, (२) कैवलान्वयि, (३) कैवल व्यतिरेकि ।

अतः अनुमान ज्ञान के भी ये ही तीन भेद माने गये हैं । हेतु जितना ठीक होगा, अनुमान भी उतना ही ठीक होगा । हेतु के समान ही हेत्वामास भी होता है परन्तु उसका हेतु के समान आभास होता है, वह वस्तुतः अनुमान ज्ञान में हेतु नहीं होता अपितु हेतु का एक प्रकार का दोष होता है । यह हेत्वामास भी पांच प्रकार का माना गया है --

(१) सव्यभिचार, (२) विरुद्ध, (३) सत्प्रतिपत्ता, (४) असिद्ध, और
(५) वाञ्छित ।

इनके अवान्तर भेद हैं । परन्तु यहाँ इनका सूत्रत्वेन उल्लेख इसलिए किया गया है कि सप्तपदार्थ विशेषण हमारा विशेष प्रयोजन है ।

३. स्मृति

लिंग (हेतु) के ज्ञान और इच्छा तथा अनुस्मरण आदि से सहायता प्राप्त,

... ..
... ..
... ..

... ..
... ..
... ..

... ..

... ..

... ..
... ..

... ..

... ..
... ..
... ..
... ..
... ..
... ..

... ..

... ..

... ..
... ..

आत्म और मन के विशेष प्रकार के संयोग तथा संस्कार, इन दोनों से उत्पन्न ज्ञान ही स्मृति है।

यह प्रत्यक्षा, अनुमेय तथा शब्दः प्रमाण इन तीनों से ज्ञात विषय में होती है। यह स्मृति अतीत विषयक ही होती है। स्मृति को उत्पन्न करने वाला संस्कार, अभ्यास - अत्यन्त सुकुट ज्ञान - और वादर से उत्पन्न होता है।

स्मृति रूप ज्ञान से अनुमिति, इच्छा, स्मृति और द्वेष की उत्पत्ति होती है।

४. आर्ष

ऋषियों के ज्ञान को आर्ष कहते हैं। ऋषियों का यह ज्ञान उनके विशेष प्रकार के पुण्य से (जोकि बर्मादि विषयक होता है एवं अतीन्द्रिय होता है) प्रातिम रूप अर्थात् प्रतिमा रूप में उत्पन्न होता है। यही प्रातिम-स्मृति-रूप ज्ञान सृष्टि के आदि वेदादि की रचना का कारण होता है। इस प्रकार का आर्ष ज्ञान देवताओं का भी माना गया है तथा किन्हीं विशेष संस्कारों के कारण कभी-कभी सामान्य जन में भी उद्भूत हो जाता है।

सुख-गुण निरूपण

‘अनुग्रह लक्षणां सुखम्’^१ यहां अनुग्रह शब्द का अर्थ है अनुकूल अपाएँ जो अनुभव मनुष्य को अपने अनुकूल प्रतीत हो वह सुख नामक गुण है।

माला, चन्दन, स्त्री आदि सभी प्रिय विषयों के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष तथा उसके साथ धर्म से युक्त आत्मा और मन का संयोग हो तो सुख

१. प्र० पा० भा०, पृ० ६३०.

नामक गुण की उत्पत्ति होती है। मालादि विषय भी हो और इन्द्रियाँ का सन्निकर्ष भी हो और यदि मन का संयोग न हो अर्थात् अविज्ञान मन व्यथित हो तो सुखोपलब्धि नहीं हो सकती। इसी प्रकार स्वास्थ्य का ठीक होना धर्मादि पद से गृहीत है।

सुख से उत्पन्न होने वाले कार्य हैं --

१. अनुग्रह (अपने बाप में एक ज्ञानात्मक आनन्द)
२. अनुराग (अभिष्वंग)
३. नयनादिप्रसाद (आँखों की स्वच्छता तथा आदि पद से मुख की प्रसन्नता तथा शरीर में स्फूर्ति आदि)।

बीते हुए सुखों के स्मरण तथा आगे आने वाले सुख के स्मरण से भी सुख उत्पन्न होता है।

आत्म तत्त्व ज्ञानियों में विषयों के प्रति आसक्ति की समाप्ति से स्मृति के न रहने पर भी जो दिव्य सुख की उत्पत्ति होती जाती है उसकी उत्पत्ति का कारण आत्मज्ञान, शम, सन्तोष रूप धर्म विशेष है।

दुःखस्वरूप-निरूपण

“उपधात लक्षणा दुःखम्”^१ उपहस्यते अनेन इति उपधात । दुःख उपधात स्वभाव वाला है अर्थात् उपधात आत्मा के प्रतिकूल आचरण है अतः प्रतिकूल-स्वभाव का आचरण दुःख नामक गुण है।

यह दुःख नामक गुण विषय आदि अनिच्छित विषय की समीप्ता से युक्त

इन्द्रियाँ तथा अधर्म युक्त आत्मा और मन के साथ संयोग होने से उत्पन्न होता है ।

इस दुःख से असहिष्णुता, दुःख का अनुभव, दीनता आदि उत्पन्न होते हैं । दुःखी व्यक्ति में यह लक्षण देखे जाते हैं । बीते हुए तथा भविष्य में जाने वाले दुःख भी दुःख को उत्पन्न करते हैं ।

इच्छा गुण निरूपण

‘स्वार्थ परार्थ वा प्राप्तप्रार्थनेच्छा ।’^१ अपने लिये अथवा दूसरों के लिये अप्राप्त-वस्तु की प्रार्थना ही इच्छा है । जैसे ‘यह मुझ मिल जाय’ वह उसे मिल जाय’ आदि ।

यह इच्छा नामक गुण सुख या स्मृति से अभिभूत आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होती है । यह इच्छा ही प्रयत्न, स्मृति, धर्म और अधर्म को उत्पन्न करती है ।

काम, अभिलाषा, राग, संकल्प, करुणा का भाव, वैराग्य आदि इसी इच्छा के प्रभेद हैं पृथग् गुण नहीं हैं । जैसे -- मद्युक्त की इच्छा ही काम है । भोजन की इच्छा ही अभिलाषा है । पुनः पुनः सुख भोगने की इच्छा राग है । किसी कार्य को अवश्य और सब करने की इच्छा संकल्प है । दूसरे के दुःख को दूर करने की इच्छा करुण्य है । विषयों को छोड़ने की इच्छा वैराग्य है । दूसरों को ठगने की इच्छा ‘उपधा’ है । भीतर किसी दुःख इच्छा भाव है । इसी प्रकार चिकीर्षा जिहीर्षा आदि भी इच्छा के प्रभेद हैं ।

१. प्रशस्तपादः भाष्य, पृ० ६३४.

द्वेष-गुण-निरूपण

जिस गुण के रहते व्यक्ति अपने को जलता हुआ सा अनुभव करे, वह द्वेष नामक गुण है ।^१

दुःख तथा दुःख की स्मृति से अभिभूत आत्मा और मन के संयोग से इसकी उत्पत्ति होती है ।

‘मैं इसे मार डालूंगा’ इस प्रकार के प्रयत्न, स्मृति, धर्म तथा अधर्म की उत्पत्ति भी द्वेष से होती है । वेद के विपरीत आचरण करने वाले के प्रति जो द्वेष किया जाता है वह धर्म को पैदा करता है । वेदानुसृत आचरण वाले के प्रति द्वेष अधर्म जनक है ।

क्रोध, द्रोह, मनु, अज्ञान और अमर्ष ये द्वेष के ही प्रभेद हैं । अपने गुण के पराजय से जो द्वेष उत्पन्न होता है उसे अमर्ष कहते हैं ।

प्रयत्न-गुण-निरूपण

प्रयत्न, संरम्भ, उत्साह ये सभी शब्द एक ही अर्थ का बोध कराते हैं । यह प्रयत्न दो प्रकार का है :

१. जीवन-पूर्वक
२. इच्छा-द्वेषपूर्वक ।

सोते हुए मनुष्य की प्राण तथा अपान क्रिया जीवन पूर्वक प्रयत्न है । क्योंकि

१. पुञ्जलनात्मकोद्वेषः । पृ० पा० भा०, पृ० ६३७.

साते हुए आदमी की इन क्रियाओं की उत्पत्ति इच्छा और द्वेषपूर्वक नहीं हो सकती । इतना ही नहीं अपितु सोकर उल्लेखी समय मन और इन्द्रिय का संयोग भी उत्पन्न करना है । जीवनपूर्वक प्रयत्न धर्माधर्म से अभिभूत आत्मा और मन के संयोग से होती है ।

इच्छा द्वेष पूर्वक प्रयत्न हित प्राप्ति और अहित त्याग की क्रिया तथा शरीर की स्थिति का कारण है । इस प्रकार का प्रयत्न इच्छा द्वेष से अभिभूत आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होता है । महर्षि कणाद द्वारा कहे सत्रह गुणों के उपरान्त सात गुण च शब्द से गृहीत होने से उनकी व्याख्या अभी क्रमशः किया जाता है ।

गुरुत्व-गुण-निरूपण

पृथिवी तथा जल में पतन क्रिया का कारक गुरुत्व-गुण है । गुरुत्व गुण का प्रत्यक्ष सम्भव न होने से यह अनुमानजन्य है । यह पृथिवी और जल में रहता है । यह गुरुत्व गुण संयोग, प्रयत्न और संस्कार का प्रतिरोधक है । अर्थात् इनके अभाव में ही 'गुरुत्व' पतन का कारण होता है । गुरुत्व भी अपने आश्रय भेद से रूप, रसादि के समान नित्या नित्य भेद बाण है ।

द्रवत्व-गुण-निरूपण

द्रवत्वं स्यन्दन-कर्म-कारणम् । जो बहने या फैलने की क्रिया का असमवायि कारण हो वह द्रवत्व नामक गुण है । यह द्रवत्व गुण दो प्रकार का है :

(१) सांसिद्धिक, (२) नैमित्तिक

सांसिद्धिक अर्थात् स्वाभाविक द्रवत्व जल में रहता है । यह जल का विशेष गुण है क्योंकि सांसिद्धिक-द्रवत्व केवल जल में ही रहता है अन्यत्र नहीं ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।
सर्वं कुरु सर्वं कुरु सर्वं कुरु ।
सर्वं कुरु सर्वं कुरु सर्वं कुरु ।
सर्वं कुरु सर्वं कुरु सर्वं कुरु ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।
सर्वं कुरु सर्वं कुरु सर्वं कुरु ।
सर्वं कुरु सर्वं कुरु सर्वं कुरु ।
सर्वं कुरु सर्वं कुरु सर्वं कुरु ।

सर्वं कुरु सर्वं कुरु सर्वं कुरु

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।
सर्वं कुरु सर्वं कुरु सर्वं कुरु ।
सर्वं कुरु सर्वं कुरु सर्वं कुरु ।
सर्वं कुरु सर्वं कुरु सर्वं कुरु ।

सर्वं कुरु सर्वं कुरु सर्वं कुरु

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।
सर्वं कुरु सर्वं कुरु सर्वं कुरु ।
सर्वं कुरु सर्वं कुरु सर्वं कुरु ।
सर्वं कुरु सर्वं कुरु सर्वं कुरु ।

नैमित्तिक अर्थात् अग्नि वादि तैजस द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न होने वाला गुण पृथिवी और तैज में रहता है । इस प्रकार द्रवत्व गुण पृथिवी जल और तैज में रहता है जिसमें जल में स्वाभाविक तथा पृथिवी और तैज में नैमित्तिक होता है । द्रवत्व भी नित्य और अनित्य दो प्रकार का है क्योंकि इसके वाक्य पृथिवी जल तथा तैज भी नित्य और अनित्य दो प्रकार के हैं । जल का बौला और बरफ रूप में जमना अपवाद स्वरूप तथा शैत्य संसर्ग कारण है । स्वभाव से जल द्रवत्व युक्त है ।

स्नेह-गुण-निरूपण

आचार्य प्रशस्तपाद ने स्नेह की परिभाषा दी है -- 'संग्रह मृजादि हेतुः स्नेहः' अर्थात् संग्रह और मृजादि का हेतु स्नेह गुण है । यहां संग्रह और मृजा इन दोनों को समझना आवश्यक है । 'संग्रह' यहां एक पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है । यहां संग्रह उस प्रकार के संयोग के लिये प्रयुक्त हुआ है जिससे ससू आटा आदि असंयुक्त द्रव्यों में गोल-कारपना उत्पन्न होता है । मृजा शब्द से शरीर की वह शुद्धि अपेक्षित है जो शरीर में उबटन आदि से उत्पन्न होती है । जादि शब्द से मिट्टी आदि का ग्रहण अपेक्षित है । तो इस प्रकार स्नेह गुण इन सभी चूणीभूत तत्त्वों को गोलकार बनाता है । इसी भाव का स्पष्टीकरण करने के लिये स्नेह की परिभाषा वन्मंभट्ट ने -- 'चूणादि पिण्डी भावहेतुर्गणः स्नेहः' इस प्रकार का उदाण किया है । दूसरा पद है -- प्रशस्तपाद भाष्य में -- 'स्नेहो पां विशेष गुणः' अर्थात् स्नेह जल का विशेष गुण है ।

तेल, दुध, घी आदि पार्थिव पदार्थों में जो स्निग्धता है, वह जलीय तत्त्व के कारण ही है । संक्षेप में स्नेह गुण का कार्य चूणीभूत तत्त्वों का पिण्डीकरण करना है । स्नेह गुण भी नित्य और अनित्य दो प्रकार का है क्योंकि इसका वाक्य जल भी नित्यानित्य भेद से दो प्रकार का है ।

संस्कार-गुण-निरूपण

संस्कार की परिभाषा या उदाण पृथक् रूप में न होकर उसका विभाजन ही संस्कार की परिभाषा मानी गयी है। संस्कार का विभाजन तीन रूपों में किया गया है --

१. वेग
२. भावना
३. स्थिति स्थापक

वेग

वेग पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन नामक मूर्त द्रव्यों में ही उत्पन्न होता है। वेग नामक संस्कार कर्म और वेग दोनों से उत्पन्न होता है, कहीं कर्म से तथा कहीं वेग से। कर्म से उत्पन्न वेग जैसे-- शरीर में अभिघात या बाण में नोदन से उत्पन्न कर्म से वेग पैदा होता है। वेग से उत्पन्न वेग का उदाहरण - जल के वेग से उत्पन्न जल के बुदबुदे का वेग या वेग वाले कपारों से उत्पन्न गटादि में जो वेग है वह भी वेगज-वेग कहलाता है।

भावना

पूर्वदृष्ट या कृत या अनुमानजन्य वर्णों की स्मृति और प्रत्यभिज्ञा का उत्पादक गुण भावनात्मक संस्कार है। भावनात्मक संस्कार के भी व्यवहारतया तीन भेद कहे जा सकते हैं --

- (१) पदप्रत्यय, (२) वादप्रत्यय, (३) जम्मासप्रत्यय

पटु प्रत्यय (भावनात्मक संस्कार) जैसे -- दक्षिणात्यर्था द्वारा ऊंट को एक बार देखने पर उनके मन में पुनः ऊंट दर्शन का पटु संस्कार रूप भावना या भावना रूप संस्कार उत्पन्न होता है क्योंकि दक्षिण में ऊंट कम होने से या नहीं होने से ।

विषा या व्यायाम के अभ्यास करने से व्यायाम के प्रति अभ्यास नामक भावनात्मक संस्कार उत्पन्न होता है ।

आदर के कारण भी भावनात्मक संस्कार प्राप्त जनों के प्रति होता है । भावना-संस्कार अपेक्षात्मक है, उपेक्षात्मक-ज्ञान भावना-संस्कार का विनाश होता है । उपेक्षा स्थल की स्मृति नहीं रहती, अतः स्मृति के लिये अपेक्षाबुद्धि आवश्यक है । ज्ञान (तटस्थवृत्तिक) मद एवं दुःखादि को भावना संस्कार का नाशक माना गया है ।

स्थिति स्थापक

यह संस्कार किसी वस्तु को विकृत होने पर उसे पुनः उसी स्थिति में स्थापित करता है । अतः स्थिति-स्थापक है । जैसे हमने किसी पैरु की शाखा को नीचे की ओर लींच लिया, होड़ने पर वह पुनः अपने स्थान को प्राप्त कर लेती है । धनुष की प्रत्यंचा या धनुष भी इसी प्रकार टेढ़े होकर पूर्वस्थिति को प्राप्त करते हैं । इनकी पूर्व स्थिति की प्राप्ति का कारण स्थितिस्थापक नामक संस्कार गुण है । कई विद्वान् इसे पृथिवी वादि चारों इज्जों में तथा कोई केवल पृथिवी में मानते हैं ।^१

१. स्थितिस्थापक संस्कारः क्षिप्ती कैचित्तुर्ध्वपि ।

-- व्याय सि० मुक्तावली, कारिका - १५६.

धर्म-गुण-निरूपण

धर्म शब्द का वैशेषिक दर्शन में दो रूपों में व्यवहार हुआ है। प्रथम तो द्रव्यादि हः पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जिसकी लेकर शास्त्रकार कणाद ने प्रतिज्ञा की है कि -- 'अथातो धर्म व्याख्या स्यात्' अर्थात् हः पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य का निरूपण करेगा जिसके ज्ञान से अभ्युदय और निश्चेयस की प्राप्ति वैशेषिक शास्त्र के अध्येताओं की होगी। इसमें (धर्म शब्द के पदार्थों के स्वरूप रूप अर्थ में) वैशेषिक शास्त्र का चतुर्थ सूत्र प्रमाण है।^१

द्वितीय धर्म शब्द आत्मा के विशेष गुण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'धर्मः पुरुष-गुणः' अर्थात् धर्म जीवात्मा का विशेष गुण है। इसका वर्णन भी परिणाम की दृष्टि से कुछ समान है। जैसे आचार्य प्रशस्तपाद का कथन है कि यह धर्म पुरुष (जीवात्मा) के प्रिय-मोक्ष तथा हित का कारण है।

धर्म अतीन्द्रिय है अर्थात् साधारण जन के लिये इन्द्रियग्राह्य न होकर योगि प्रत्यक्ष है और अनुमान एवं आगम से ज्ञात है। ईश्वर जीवों के कर्मापेक्ष के आधार पर जगत का निर्माण करता है यह अनुमान का उदाहरण है। आचार्य प्रशस्तपाद ने तीनों वर्णों तथा आश्रमों के धर्मों का उल्लेख करते हुए कहा है कि -- ये इन-इन आश्रमों और वर्णों के सामान्य तथा विशेष धर्म हैं। इसी आशय का स्पष्टीकरण प्रकरण ग्रन्थों में मिलता है। तर्क-संग्रह में धर्म का उदाहरण है -- विहित कर्मों से उत्पन्न धर्म है। अर्थात् वेदादि शास्त्रों में

१. धर्म विशेष प्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्व ज्ञानाग्निः शैलम् ।
-- वे० सू० १।१।४.

२. न्यायकन्दली - प्रशस्तपादभाष्य, पृ० ६५६.

३. कर्तुः प्रियहितमोक्ष हेतुः । -- वही.

ब्राह्मणादि वर्णों के विहित (उपदिष्ट) कर्मों से उत्पन्न पुण्य धर्म है ।^१

अधर्म-गुण-निरूपण

अधर्म भी आत्मा (जीवात्मा) का ही गुण है । जैसे धर्म कर्ता के हित, सुख और मोक्ष का साधन है वैसे अधर्म दुःख अस्ति और बन्ध का हेतु है । यह भी अतीन्द्रिय है । अधर्म शास्त्रों (वेदादि) में निषिद्ध कर्मों के करने से उत्पन्न पाप रूप है । शास्त्र निषिद्ध कर्म असत्य भाषण, चोरी, हिंसा आदि हैं । पाप से अभिभूत आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होता है । तत्त्व ज्ञानादि से इसका नाश होता है ।

शब्द-गुण-निरूपण

त्रोत्र मात्र से ग्राह्य, आकाश द्रव्य में रहने वाला गुण शब्द है ।^२ शब्द दो प्रकार का है -- (१) ध्वनिरूप (२) वर्णरूप ।

ध्वन्यात्मक शब्द भेरी आदि का होता है । तथा वर्णात्मक शब्द भाषा रूप । इन दोनों प्रकार के शब्दों के अन्यतर प्रकार से तीन भेद हैं --

(१) संयोगज, (२) विभागज, (३) शब्दज ।

(१) डोल का लंका या हाथ के साथ संयोग होने से जो शब्द उत्पन्न होता है, वह संयोगज होता है ।

(२) लकड़ी आदि के तोड़ने से जो शब्द होता है विभागज होता है ।

(३) जो शब्द पूर्वोत्पन्न शब्द से उत्पन्न हो वह शब्दज होता है । शब्द अपने आश्रय आकाश के एक देश अर्थात् कणशिकुली में रहता है ।

१. अधर्माध्व्यात्मगुणः । पृ० पा० मा०

२. शब्दोद्धरणगुणः । वही, पृ० ६६२

‘वैशेषिकः’ कहकर प्रशस्तपाद ने शब्द को अनित्य घोषित किया है तथा अर्थाविधारण में शब्दज प्रक्रिया अर्थात् एक शब्द दूसरे शब्द को दूसरा शब्द तीसरे को उत्पन्न करता है तथा शब्द-नाश के अनन्तर उसका संस्कार (अर्थाविधारण में) मूल कारण है ।

शब्द की उत्पत्ति में बीची तरंग न्याय प्रसिद्ध है । जैसे — जल में पत्थर फेंकने से प्रथम एक तरंग उत्पन्न होती है पश्चात् उसी तरंग से चतुर्दिक् तरंग उत्पन्न होती है । इसी प्रकार से उत्पन्न शब्द चतुर्दिक् शब्दोत्पत्ति का मूलक है ।

शब्द तो नित्य है तो उसकी उत्पत्ति और विनाश कैसा ?

इसके समाधान में एक काशिका मुक्तावली की इस प्रकार है —

उत्पन्नः को विनष्टकः इति बुद्धे रनित्यता ।
सौष्ठवं क इति बुद्धिस्तु सा जात्यमकलम्बते ॥

अर्थात् ‘के’ नातु बादि से ककारादि उत्पन्न होते हैं, और विनष्ट होते हैं इस प्रकार के व्यवहार से शब्द अनित्य है । रही बात कि ‘के’ बादि का स्थानान्तर या कालान्तर में यह यही ककार है, इस प्रकार का ज्ञान सनातीयता के कारण है । वह तज्जातीय ककार ही है अतः उससे ‘के’ का ज्ञान होता है ।

शब्द प्रमाण नहीं है

वैशेषिकी ने शब्द को प्रमाण नहीं माना है । अपितु इसका अनुमान में अन्तर्भाव माना है । नैयायिकी ने इसे स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार किया है । वैशेषिकी के मत में शब्द अनुमान विधि से ही प्रमाण-भूत है, स्वतन्त्र रूप में नहीं ।

०

- १. बीचीतरङ्गन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता । -- न्याय सिद्धान्त मुक्ता०, का० १६६.
२. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, कारिका १६७.

चतुर्थ अध्याय

कर्म-निरूपण

आचार्य प्रशस्तपाद ने कर्म स्वरूप निरूपण करते हुए उसके १३(तेरह) असाधारण धर्म बताये हैं। जो पांचों प्रकार के कर्मों में रहते हैं।

(१) कर्मत्व जाति से सम्बन्ध -- अर्थात् उत्पत्तिपणादि की जाति से सभी कर्मों का सम्बन्ध है।

(२) एक समय में एक ही द्रव्य में रहना -- एक समय में द्रव्य में एक ही क्रिया रहती है तथा एक क्रिया एक ही द्रव्य में रहती है परन्तु स्वयं-विभादि गुण अनेक द्रव्यों में रहते हैं।

(३) साणिकत्व -- उत्पत्ति के बाद कर्म नष्ट हो जाती है, अतः साणिक है।

(४) मूर्त द्रव्यों में ही रहना -- पृथिवी-जलादि मूर्त द्रव्यों में ही क्रिया रहती है। परमवस्तुपरिमाण वाले आकाशादि में क्रिया नहीं रहती।

(५) अगुणवत्त्व -- क्रिया (कर्म) गुणों से रहित होते हैं। अर्थात् द्रव्य की भांति कर्म गुण के आश्रय नहीं होते या गुण कर्म में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहते।

(६) गुरुत्व, द्रवत्व, प्रसन्न और संयोग इन चार गुणों से उत्पन्न होना।

भारतीय विद्या भवन

पुस्तकालय

संस्कृत विभाग

संस्कृत विभाग के अधीन आने वाले सभी पुस्तकालयों में

1. के पुस्तकालयों में पुस्तकें रखी जाएंगी 2. के पुस्तकालयों में पुस्तकें रखी जाएंगी

3. के पुस्तकालयों में पुस्तकें रखी जाएंगी 4. के पुस्तकालयों में पुस्तकें रखी जाएंगी (3)

1. के पुस्तकालयों में

2. के पुस्तकालयों में पुस्तकें रखी जाएंगी 3. के पुस्तकालयों में पुस्तकें रखी जाएंगी (4)

4. के पुस्तकालयों में पुस्तकें रखी जाएंगी 5. के पुस्तकालयों में पुस्तकें रखी जाएंगी

1. के पुस्तकालयों में

2. के पुस्तकालयों में पुस्तकें रखी जाएंगी 3. के पुस्तकालयों में पुस्तकें रखी जाएंगी (5)

4. के पुस्तकालयों में पुस्तकें रखी जाएंगी 5. के पुस्तकालयों में पुस्तकें रखी जाएंगी (6)

6. के पुस्तकालयों में पुस्तकें रखी जाएंगी 7. के पुस्तकालयों में पुस्तकें रखी जाएंगी

8. के पुस्तकालयों में पुस्तकें रखी जाएंगी 9. के पुस्तकालयों में पुस्तकें रखी जाएंगी (7)

10. के पुस्तकालयों में पुस्तकें रखी जाएंगी 11. के पुस्तकालयों में पुस्तकें रखी जाएंगी

12. के पुस्तकालयों में पुस्तकें रखी जाएंगी 13. के पुस्तकालयों में पुस्तकें रखी जाएंगी (8)

(७) अपने द्वारा उत्पन्न संयोग से नष्ट होना -- अर्थात् अपने ही द्वारा उत्पन्न विभाग से नहीं ।

(८) अनपेक्षभाव से (बिना और की सहायता के) संयोग और विभाग को उत्पन्न करना ।

(९) असमवायिकारणत्व -- गुण निमित्त और असमवायिकारण दोनों प्रकार का कारण भी होता है परन्तु कर्म या क्रिया केवल असमवायिकारण ही होती है ।

(१०) अपने आश्रय रूप द्रव्य तथा उससे पृथक् द्रव्य इन दोनों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले (संयोग और विभाग) को उत्पन्न करना ।

(११) अपने समान जातीय वस्तु को उत्पन्न न करना -- अभिप्राय यह है कि यदि क्रिया दूसरी क्रिया को उत्पन्न करे, तो एक बार चल पड़ेगा वह चलता ही रहेगा । अतः द्रव्यों में उत्पन्न क्रिया इसीलिये जाणिक मानी गयी है ।

(१२) प्रत्येक क्रिया में उत्त्क्षोपणादि जातियों का सम्बन्ध उत्त्क्षोपित क्रिया का उत्त्क्षोपणत्व जाति से सम्बन्ध इसी शेष कर्मों का स्व स्व जातियों से सम्बन्ध ।

(१३) दिग्विशिष्ट कार्यों का आरम्भ ।

इस प्रकार प्रस्तोत पाद भाष्य में सभी कर्मों के यह तौरह असाधारण धर्म कहे गये हैं । यद्यपि भाष्य में सभी कर्मों के ये असाधारण धर्म सूत्रकार से ही गृहीत हैं । महर्षि कणाद ने प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के सप्तम सूत्र से लेकर अन्तिम सूत्र (इकतीसवें) तक इन असाधारण धर्मों का साधर्म्य और वैधर्म्य क्रम से निरूपण किया है । सूत्रकार के अनुसार कर्म-उत्पत्ति का निर्धारक सूत्र इस प्रकार है --

१. कर्म कर्म साध्यं न विधी । वे० सू० १।१।११

१. एकद्रव्यमगुणं संयोग विभागेषु-अनपेक्षकारणमिति कर्म लक्षणम् । १

यद्यपि इस सूत्रस्थ कर्म-लक्षण के सभी तत्त्व उपनिर्दिष्ट असाधारण धर्मों में आ चुके हैं तथापि सूत्रकार के मत्तत्त्व पर विचार किया जाना अपेक्षित है --

एकद्रव्यम् -- इस पद का अभिप्राय है कि जैसे-संयोग विभाग व संख्या आदि गुण अनेक द्रव्यों में रहते हैं वैसे कर्म (क्रिया) एक साथ अनेक द्रव्यों में नहीं रहता ।

अगुणम् -- इस द्वितीय पद में अगुणम् का वाक्य है -- कि कर्म कभी भी गुण का आश्रय द्रव्य की भांति समवाय सम्बन्ध से नहीं होता ।

संयोग विभागेषु-अनपेक्षकारण -- संयोग और विभाग की उत्पत्ति में कर्म बिना किसी दूसरे कारण की अपेक्षा रहती हुए कारण होता है । जैसे -- एक द्रव्य में उत्पन्न हुई गति द्रव्य में विभाग उत्पन्न कर देती है । तदनन्तर उस द्रव्य का पूर्व-देश से संयोगनाश तथा उत्तरदेश संयोग उत्पन्न होता है । इस संयोग और विभाग में क्रिया किसी दूसरे निमित्त की अपेक्षा नहीं रखती ।

कर्म स्वरूप निरूपण के अनन्तर कर्मभेद निरूपण प्रसक्तः किया जाता है ।

कर्म-भेद-निरूपण

२. उत्कृष्टोपणमवक्षोपणमाकुचनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि । २

उत्कृष्टोपण, अवक्षोपण, आकुचन, प्रसारण और गमन ये कर्म के सामान्यतया पांच भेद हैं ।

१. वै. सु. १।१।२८

२. वै. सु. १।१।७

(१) उत्क्षोपण

ऊपर की ओर फेंकने या गति करने की क्रिया को उत्क्षोपण कहते हैं। इसके पारिभाषिक वाक्य में इस प्रकार कहेंगे कि -- 'जो कर्म शरीर के अवयव तथा उससे युक्त वस्तु का ऊपर के देश के साथ संयोग का कारण तथा नीचे के प्रदेश के साथ उसी वस्तु के विभाग का कारण है।' जैसे -- मूसल को (धान आदि कूटने के लिये) हाथ द्वारा ऊपर उठाने की क्रिया को उत्क्षोपण कहा जाता है।

'उत्क्षोपण' क्रिया की उत्पत्ति में गुरुत्व, प्रयत्न और संयोग कारण हैं। इसमें (गुरुत्व) उत्क्षोपण को कैसे उत्पन्न करता है यह समझने योग्य बात है। यद्यपि गुरुत्व (भारीपन) अवक्षोपण क्रिया का कारण होना उचित प्रतीत होता है उत्क्षोपण का नहीं। इसके समाधान में कहते हैं कि गुरुत्व-गुण-विहीन वस्तु के प्रति उसके उत्क्षोपण के लिये इच्छा से उत्पन्न प्रयत्न तथा प्रयत्नपूर्वक संयोग ही न होगा, परिणामतः उत्क्षोपण क्रिया ही न होगी और गुरुत्व-गुण होने से यह सम्भव है। अतः उत्क्षोपण (क्रिया) में गुरुत्व, प्रयत्न और संयोग तीनों ही कारण हैं।

(२) अवक्षोपण

उत्क्षोपण की विपरीत क्रिया का नाम अवक्षोपण है। इसमें भी गुरुत्व, प्रयत्न तथा वस्तु का हाथ के साथ संयोग कारण है। क्योंकि यदि हाथ से उठाया हुआ पत्थर या मूसल यदि इच्छा और प्रयत्नपूर्वक नीचे न लाया जायें तो वह गिरेगा तो है ही -- गुरुत्व होने से परन्तु उसकी इस क्रिया को अवक्षोपण नहीं कहा जायेगा, उसे केवल वस्तु की सामान्य-गति कहा जायेगा। प्रयत्नपूर्वक नीचे की ओर वस्तु को लाने की क्रिया को अवक्षोपण कहा जाता है।

उत्क्षोपण तथा अवक्षोपण (निश्चित दिशा में होने वाली क्रिया होने से

कारण) इनका स्वतन्त्र अस्तित्व है। इसीलिये प्रशस्तपादाचार्य ने दिग्विशिष्ट क्रियाओं का आरम्भक होना कर्म का असाधारण लक्षण कहा है।

(३) आकुंचन

समेटने की क्रिया को आकुंचन कहते हैं। जैसे -- फैलाकर बिछायी गयी चादर को इकट्ठे करने की क्रिया को आकुंचन क्रिया कहते हैं। यह क्रिया कोमल वस्तु में ही हो सकती है। कठोर वस्तु में समेटना या सिकुड़ना सम्भव नहीं। इसीलिये प्रशस्तपादाचार्य ने 'ऋजुनो-द्रव्यस्याग्राक्यवानां...' ऐसा पैद पड़ा है। वस्तु के अग्रभागों का सिकुड़कर तद्देश से विभाग कोमल वस्तु में ही सम्भव है।

(४) प्रसारण

आकुंचन की विपरीत क्रिया का नाम प्रसारण है। सिकुड़ी हुई चादर को फैलाना या इकट्ठे हुए फूलों को फैलाना ही प्रसारण क्रिया है। हाथ की मुट्ठी को बांधना और खोलना भी क्रमशः आकुंचन तथा प्रसारण क्रियाएँ हैं।

(५) गमन

अनिश्चित रूप से किसी भी दिक् प्रदेश के साथ संयोग और विभाग की उत्पादिका क्रिया 'गमन' है।^१ द्रव्य समूह में सामान्य रूप से होने वाली सभी क्रियाओं का ग्रहण गमन में आ जाता है।

चक्कर में घूमना, बाहर जाना भीतर जाना, ऊपर-नीचे जाना-जाना,

१. यदनियतदिक्प्रदेश संयोग विभाग कारण तद्गमनमिति ।

-- न्यायकन्दली, पृ० ७००.

तिरछे चलना आदि सभी कर्म गमन में ही आ जाते हैं । इनसे पृथक् कर्म मानने की आवश्यकता नहीं ।^१

०

१. भ्रमणां रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्जलनमैव च ।

तियूर्यङ्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥

-- न्या० सि० मुक्तावली, का० ७.

पंचम अध्याय

सामान्य-निरूपण

सूत्रकार महर्षि कणाद का सामान्य उदाण

‘सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षाम् ॥’

महर्षि कणाद ने प्रस्तुत सूत्र में सामान्य नामक पदार्थ है -- इसकी प्रमाणित करने के लिए ‘बुद्ध्यपेक्षाम्’ पद दिया है। अर्थात् अनेक वस्तुओं में समान-जैसा ज्ञान (बुद्धि) होना ‘सामान्य’ नामक पदार्थ है। ‘विशेष’ पद से सामान्य का द्वैविध्य (दो प्रकार का होना) बताया है। एक ‘सामान्य’ (जो पर या सत्ता जाति वाला होता है), दूसरा ‘विशेष-सामान्य’ (जो अपर तदिभन्न न्यून देश वृत्तिक है)।

आचार्य प्रशस्तपाद का सामान्य उदाण

‘स्वविषय सर्वगतमभिभात्मकमनेक वृत्ति-एक द्विवहुष्वात्मस्वरूपानुगम प्रत्यकारि स्वरूपाभेदेनाधारेण प्रबन्धेन वर्तमान मनु वृत्ति प्रत्यय कारणम् ॥’

वर्तमान का
इतने बड़े एक पद मात्र सामान्य का उदाण कर देता है। ‘अभिभात्मकमनेकवृत्तिः’ अर्थात् सामान्य वह है जो अनेकों में रहता हुआ - समान-बुद्धि-धर्मक है। बगले पदों में इसी का व्याख्यान है। जिसका अभिप्राय है -- ‘एक दो या बहुत-सी वस्तुओं में ‘एक-बुद्धि’ का कारण सामान्य है।

पृष्ठ १००

पृष्ठ १००-१०१

पृष्ठ १००-१०१

॥ पृष्ठ १००-१०१ ॥

पृष्ठ १००-१०१

पृष्ठ १००-१०१

पृष्ठ १००-१०१

मुक्तावलीकार ने इसी आशय का संक्षिप्त और सुन्दर लक्षण किया है --

‘नित्यत्वे सति अनेक समवेतत्वम्’

इन लक्षण में तीन बातें हैं --

१. नित्यत्व, २. अनेकों में रहना, ३. समवाय सम्बन्ध से रहना ।

इसमें यदि ‘नित्यत्व’ पद को न रहें तो सामान्य का यह लक्षण ‘संयोग’ नामक गुण अतिव्याप्त हो जायेगा । क्योंकि वह संयुक्त होने वाली अनेक धर्मों की वस्तुओं में रहता है । तथा समवाय सम्बन्ध से रहता है क्योंकि कोई भी अपने आश्रय द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है, इसी लिये गुण-गुणी (द्रव्य) का समवाय सम्बन्ध स्वीकार किया गया है ।

यदि ‘अनेकों में रहना’ पद न रहें तो यह लक्षण आकाश के परिमाण में अतिव्याप्त हो जायगा । क्योंकि आकाश-नित्य है उसका परिमाण भी नित्य हुआ वह अपने आश्रय में समवाय सम्बन्ध से रहता है ।

तृतीय पद ‘समवाय-सम्बन्ध-से-रहना’ न रहें तो अत्यन्ताभाव में अति व्याप्त हो जायगा । अतः मुक्तावली में यह कन्दली के आशय को प्रकट करने वाला निर्दुष्ट लक्षण कहा गया है ।

जाति (सामान्य) और उपाधि में भेद

तथा

जातिबाधक निरूपण

तर्क-किरणावली में जाति और उपाधि भेदक लक्षण बहुत सुन्दर है --

... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ...

“... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ...”

... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ...

... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ...

“... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ...”
... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ...
... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ...
... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ...
... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ...

... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ...
... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ...
... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ...

... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ...
... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ...
... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ...

... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ...

...

...

... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ... १००० ...

‘साक्षात्सम्बद्धमलण्डसामान्यं जातिः’

परम्परया सम्बद्धं सलण्ड सामान्यमुपाधिः ।^१

साक्षात् रूप से सम्बद्ध सामान्य है जिसके उदाहरण हैं -- द्रव्यत्व जाति, कर्मत्व जाति, गुणत्व जाति । द्रव्य का द्रव्यत्व से कर्म का कर्मत्व से सीधा सम्बन्ध है अतः यह जाति हुई । परम्परा रूप से सम्बद्ध सामान्य उपाधि कहलाती है । जैसे -- दण्डित्व, दण्डी और दण्डित्व का साक्षात् रूप से सम्बन्ध नहीं है -- परम्परया सम्बन्ध है । क्योंकि दण्डी से दण्ड संयोग पृथक् हो जाय तो दण्डित्व न रहेगा, परन्तु द्रव्यत्व और द्रव्य के बीच में ऐसी कोई चीज नहीं है ।

जाति और उपाधि में यह भेद समझना आवश्यक है । जाति-धर्म नित्य होता है परन्तु उपाधि-धर्म संयुक्त या आरोपित या यदुच्छात्मक ।

जाति बाधक तत्त्वों का उदयनाचार्य ने एक कारिका में संग्रह किया है जो न्यायवैशेषिकी में ख्याति प्राप्त है । प्रसंगवश उसका भी संक्षिप्त विवेचन करते हैं । उदयनाचार्य द्वारा प्रस्तुत है जाति बाधक निम्नतया है ।^२

१. व्यक्तीरमेद

जो पदार्थ (व्यक्ति) एक ही हो, उसमें जाति रूप धर्म नहीं होता -- जैसे आकाश एक ही है अतः आकाशत्व ऐसी जाति नहीं बन सकती प्रत्युत आकाशत्व-उपाधि है ।

१. तर्ककिरणावली, पृ० २२

२. व्यक्तीरमेदतुल्यत्वं संक्राडधानवस्थितिः ।

रूपहानिरसम्बन्धी जातिबाधक संग्रहः ॥

२. तुल्यत्वम्

जो धर्म तुल्य हो -- जैसे घट और कलश पर्याय-वाची या तुल्य है । अतः घटत्व और कलशत्व ऐसी पृथक्-पृथक् जाति नहीं हो सकती । ऐसे ही मनुष्य, मानवत्व आदि पृथक्-पृथक् जातियां नहीं होतीं ।

३. संकर

जिनके धर्मों में परस्पर संकर हो वे पदार्थ जाति के उत्पादक नहीं होते । जैसे भूतत्व और मूर्तत्व ऐसे दो धर्म हैं जिनमें परस्पर संकर है । भूतत्व और मूर्तत्व का जोड़ जाति नहीं बनाता । पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन ये पांच द्रव्य मूर्त द्रव्य हैं -- इनमें मूर्तत्व रहता है तथा पृथिवी जल तेज, वायु और आकाश इनमें भूतत्व रहता है । इनमें एक एक तत्व ऐसा है जिसमें एक एक के धर्म का अभाव है और उसी अधिकरण में दूसरा धर्म रहता है जैसे कि आकाश में मूर्तत्व का अभाव है और उसी अभाव के साथ भूतत्व पाया जाता है । जबकि मन में भूतत्व का अभाव है और वहां मूर्तत्व पाया जाता है अतः भूतत्व और मूर्तत्व नामक जाति पृथिवी आदि चार में भूतत्व और मूर्तत्व जाति नहीं मानी जा सकती । क्योंकि इनमें भूतत्व और मूर्तत्व का धर्म संकर है ।^१

४. अनवस्थिति

जाति में जाति का मानना अनवस्था दोष होने से सम्भव नहीं । जैसे सचा एक जाति है उसमें फिर सचात्व नाम की कोई जाति नहीं मानी जायगी क्योंकि फिर सचात्वत्वं एवं फिर 'त्वं' लगाकर एक और जाति इस प्रकार का

१. परस्परात्यन्ताभाव समानाधिकरणयोरैकधर्मिणि समावेश संकरः ।

अवस्था दोष होगा। अतः इस प्रकार द्रव्यत्वत्व तथा और भी केवल उपाधि ही है जाति नहीं।

५. रूप हानि

‘विशेष’ की विशेषत्व जाति नहीं होती। क्योंकि ‘विशेष’ तो ‘स्वतोऽव्यावृत्त’ है और यदि ‘विशेष’ की भी मानी जाय तो उसकी अन्यो से व्यावृत्त (पृथक्) करने वाली दूसरी ‘विशेषत्व जाति’ हुई। इस प्रकार विशेष का जो रूप स्वतो-व्यावृत्त होना था उसकी ही हानि हो गयी अर्थात् रूपहानि हो गई। इस प्रकार विशेषत्व भी एक उपाधि ही है।

६. असम्बन्ध

जिनमें परस्पर सम्बन्ध का अभाव हो। उनकी जाति नहीं बन सकती है। जैसे समवायत्व नामक कोई जाति नहीं होती क्योंकि जाति अपने आश्रय में समवाय सम्बन्ध से रहती है परन्तु समवाय में एक और समवाय का मनना सम्भव नहीं। इस प्रकार समवायत्व जाति का अपने व्यञ्जित समवाय के साथ सम्बन्ध का न बन सकना रूप सम्बन्ध का अभाव अर्थात् असम्बन्ध नामक दोष होने समवाय की समवायत्व जाति नहीं बन सकती।

सामान्य-भेद-निरूपण

सामान्य भेद के विषय में वैशेषिकों में दो मत हैं -- एक द्विविध निरूपण मत जो पर और अपर दो भेद मानता है। कन्दलीकार सामान्य के दो ही भेद मानते हैं क्योंकि भाष्यकार ने भी दो ही माने हैं -- १. पर (सामान्य),
२. अपर (सामान्य)।

१. सामान्यं द्विविधं परमपरं च ।

पर (सत्ता) जाति (सामान्य)

पर सामान्य की सत्ता जाति कहा जाता है क्योंकि - परत्वं - 'अधिक देश वृत्तित्वम्' सत्ता सबसे बड़ी जाति मानी गयी है परन्तु इसकी यह बड़ापन (सत्तापन) सापेक्ष है । द्रव्यत्व, कर्मत्वादि की अपेक्षा रहती है । यह सत्ता जाति द्रव्य, गुण और कर्म केवल इन पदार्थों में रहती है ।^१ अर्थात् द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व ये पर (सत्ता) जातियाँ हैं^२ और अपर जातियाँ भी क्योंकि सत्ता की अपेक्षा ये ऊपर हैं और पृथिवीत्व की अपेक्षा पर हैं । इससे (सत्ता से) बड़ी सामान्यत्वादि नामक कोई जाति नहीं होती ।

अपर जाति (सामान्य) -

'अपरत्वं - अल्पदेश वृत्तित्वम्' जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि पृथिवीत्व, रूपत्व आदि जातियाँ द्रव्यत्व, गुणत्व की अपेक्षा अपर (छोटी) हैं । इसी प्रकार द्रव्यत्व, गुणत्व आदि जातियाँ 'सत्ता' जाति की अपेक्षा ऊपर हैं ।^३ इनकी क्रमशः वैशेषिकों ने 'व्यापक' और 'व्याप्य' नाम से भी कहा है ।

कतिपय आचार्यों ने तीन भेद माने हैं ।^४ दो समान ही हैं । तीसरा भेद

१. सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च ।
द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्तापरतयोच्यते ॥ -- न्या० सि० मु० का० ८.
२. सदिति यतो द्रव्य गुण कर्मसु सा सत्ता । वै० मु० १।२।७.
३. परभिमा च या जाति सैवा परतयोच्यते ।
द्रव्यत्वादिक जातिस्तु परापरतयोच्यते ॥ -- न्या० सि० मु० का० ६.
४. तर्कामृतकार (आचार्य जगदीश मिश्र).

व्याप्य-व्यापक या 'परापर' का माना है । उनके उदाहरण क्रमशः (१) सत्ता व्यापक (पर) जाति है । (२) घटत्व व्याप्य (अपर) जाति है । (३) द्रव्यत्व (व्याप्य-व्यापक) या परापर के उदाहरण हैं । इन तीनों का स्वरूप पूर्वोक्त में विवेचित होने से पृथक् विवेचनीय नहीं है ।

षष्ठ अध्याय

विशेष निरूपण

चूंकि सूत्रकार ने सामान्य निरूपक सूत्र में विशेष शब्द का प्रयोग किया था, तब यह जिज्ञासा बनना स्वाभाविक था कि प्रथम अध्याय के चतुर्थ सूत्र में पठित सप्त पदार्थों में विशेष की जलन पदार्थ स्वीकार है। अतः क्या सामान्य निरूपक सूत्र में विशेष - शब्द 'विशेष' पदार्थ का सूचक है? या फिर 'विशेष सामान्य' ही सामान्य का एक भेद है?

इस पर सूत्रकार का कथन है कि --

‘अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः’ वे० सू० १।२।६.

अन्यत्र -- अर्थात् सामान्य-पदार्थ-निरूपक सूत्र में पड़े गये ‘सामान्य-विशेष’ पद में ‘विशेष’ से यह ‘विशेष’ पदार्थ अन्यत्र है (भिन्न है)।

अन्त्येभ्यः - पद का अभिप्राय है नित्य द्रव्यों में रहने से। अन्त शब्द का अभिप्राय अवसान भी है -- अर्थात् कार्य द्रव्यों का जहाँ अन्त हो जाता है वे ही नित्य द्रव्य वा परमाणु द्रव्य हैं उनमें रहने से।

विशेषेभ्यः -- नित्य द्रव्यों में पृथक्-बुद्धि (विशेष-बुद्धि) का हेतु होने से, यह विशेष पदार्थ है।

अधिकांश परिमाणारं सूत्रकार के मन्ताव्य की स्पष्ट करने के लिये इन्होंने

संस्कृत-शब्द-कोश

संस्कृत-शब्द-कोश

शब्द को आगे पीछे करके बनी हुई है ।^१

‘विशेष’ की व्याख्या में प्रशस्तपादाचार्य एक पद लिखते हैं -- ‘स्वाश्रय विशेषकत्वाद्विशेषः’ अर्थात् जो अपने आश्रय को तद्भिन्न पदार्थों से अलग रूप में स्मष्ट करने के कारण यह ‘विशेष’ है ।

पृथिवी, जल, तेज, वायु के परमाणुओं में और आकाश काल, दिग्, आत्मा और मन में विशेष नामक पदार्थ रहता है ।

जिस प्रकार सभी पदार्थों का विभेदक पदार्थ ‘विशेष’ है वैसे ही विशेष का विभेदक (एक विशेष को दूसरे विशेष से पृथक् करने वाला) पदार्थ भी होना चाहिए ?

इसके लिये ‘स्वतो-व्यावृत्ति’ शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् विशेष ‘स्वतो व्यावृत्ति’ है -- वह अपना विभेदक स्वयं है । उसका व्यावर्तिक पदार्थ यदि कोई अन्य माना जाय तो अनवस्था दोष होगा क्योंकि फिर उसमें भी एक और व्यावर्तिक पदार्थ की कल्पना इस प्रकार अनेक विशेषों या व्यावर्तकों की कल्पना करनी पड़ेगी । यह इस परमाणु पदार्थ की विशेषता है कि वह परमाणु आदि नित्य आकाशादि नित्य द्रव्यों का व्यावर्तिक होता हुआ अपना व्यावर्तिक है ।

परमाणु के विभेदक ‘विशेष’ की क्या आवश्यकता है ऐसा कतिपय आचार्यों का मत है उनके मत में परमाणुओं की स्वलक्षण मानने (स्वयं भिन्न मानने) से काम चल जायेगा ?

१. अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः परिकीर्तितः ।

-- न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, का० १०.

इस पर वैशेषिकों का उत्तर है कि -- घटः पटात् भिन्नः घटत्व जाति सत्त्वात् अभिप्राय है कि घट में रहने वाली घटत्व जाति जैसे घट को पट बादि से भिन्न बुद्धि का कारण बनती है। वैसे बिना जाति वाले नित्य तथा परमाणु द्रव्यों का विभेदक 'विशेष' पदार्थ है तथा विशेष स्वयं व्यावृत्त है।^१

विशेष पदार्थ को अन्य दार्शनिकों ने स्वीकार नहीं किया है। यह केवल वैशेषिक का विषय^२ कदाचित् इसी लिये विद्वानों ने ऐसा स्वीकार किया है कि 'विशेष' पदार्थ विशिष्ट कल्पना होने से ही यह शास्त्र वैशेषिक कहा गया। इसमें सन्देह नहीं कि परमाणु सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना के लिये विशेष पदार्थ की कल्पना आवश्यक है।

कतिपय विद्वान् 'विशेष' पदार्थ को प्रशस्त पादाचार्य की देन बताते हैं और आचार्य कणाद का विशेष-उद्गणसूत्र सामान्य-प्रकरणक बताया जाता है। यह सिद्धान्त ठीक नहीं क्योंकि यदि महर्षि कणाद को विशेष पदार्थ अभीष्ट न होता तो 'धर्म^{विशेष} प्रसूतात्...' सूत्र में इसका उल्लेख न करते। यदि उसे सामान्य का भेद वहाँ मानें तो इस प्रकार सभी पदार्थ भेद वाले हैं परन्तु उनका भेदोल्लेख प्रस्तुत सूत्र में नहीं है। अतः 'अन्यत्रान्त्यैभ्यो विशेषाभ्याः' इस सूत्र का सूक्ष्म संगति विचार करने पर प्रतीत होगा कि महर्षि कणाद को विशेष पदार्थ अभीष्ट था और प्रस्तुत सूत्र उस विशेष पदार्थ का असाधारण धर्म सूत्र है।

०

१. परमाणुनां परस्पर भेदको विशेष एव । सूतु स्वत एव व्यावृत्तः तेन तत्र विशेषान्तराप्रैजा नास्ति इति भावः ।

-- न्या० सि० मुक्तावली.

२. अन्यत्रान्त्यैभ्यो विशेषाभ्याः । के० पू० टी० टी०

सप्तम अध्याय

समवाय - निरूपण

अयुत सिद्धानामाधायार्थार भूतानां यः सम्बन्ध इह प्रत्यय हेतुः सः समवायः ।^१

आधार और आधेय रूप अयुत सिद्धों का सम्बन्ध, जो 'इसमें यह है' इस प्रकार के व्यवहार का कारण हो -- समवाय सम्बन्ध नामक पदार्थ कहलाता है । सूत्रकार ने समवाय के लक्षण-सूत्र में 'अयुत सिद्ध' शब्द नहीं रखा है और न आधार-आधेय ही, परन्तु सूत्र में 'इह + इदमे' 'इहेदमे' पद, इन व्याख्यान पदों का सूत्र है । इह = आधार का इदम = आधेय, का बोधक है । अर्थात् ऐसे - दो कारण और कार्य जिनमें यह बोध हो कि 'इसमें यह है' एवं इस प्रकार का बोध अयुत सिद्ध पदार्थों का ही होता है । उन दोनों कारण-कार्य में समवाय सम्बन्ध नामक पदार्थ की स्थिति होती है ।

अयुत सिद्ध का अर्थ है -- जो कारण अपने कार्य में अविवर्त्यत् (बिना नष्ट हुए) परिणत हो ।^३ ये अयुत-सिद्ध पदार्थ पांच हैं जिनका जोड़ा न्याय-वैशेषिक में प्रसिद्ध है :

१. अवयव और अवयवी में ।
२. व्यक्ति और जाति में ।

१. न्यायकन्दली, पृ० ७७३.

२. इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः । -- वें० सू० ७।२।२६.

३. यद्योर्माध्यै एकमविनश्यदपराक्रियमेवानतिष्ठतेतौ अयुत सिद्धौ ।

-- तर्कभाषा, पृ० २६.

संस्कृत-भाषा

संस्कृत-भाषा

३. गुणी (द्रव्य) तथा गुण में ।
४. क्रिया और क्रियावान में ।
५. नित्य द्रव्य और विशेष में ।

आचार्य विश्वनाथ पंचानन ने भी इन्हीं पाँचों में समवाय सम्बन्ध को स्वीकार किया है । यथा --

घटादीनां कपाळादौ द्रव्येषु गुण कर्मणोः ।
तेषु जातेश्चसम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः ॥^१

समवाय का नित्यत्व

दो प्रकार के सम्बन्ध न्याय-वैशेषिक परम्परा में स्वीकार किये गये हैं -- एक संयोग दूसरा समवाय । दो द्रव्यों का परस्पर ऐसा सम्बन्ध जो कभी रहे और कभी न रहे उसे संयोग सम्बन्ध कहते हैं । जैसे -- पुस्तक का हाथ के साथ सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध है । यह संयोग सम्बन्ध अनित्य है चूंकि कभी यह रहता है और कभी नहीं रहता । परन्तु ऐसी दो वस्तुओं का सम्बन्ध जो एक दूसरे से भिन्न रूप में रह ही न सके उनका समवाय सम्बन्ध होता है -- इसी को नित्य सम्बन्ध भी कहा जाता है ।

तन्तु और पट अवयव-अवयवी हैं । इनका समवाय सम्बन्ध है -- बिना तन्तु के पट नहीं रह सकता तथा तन्तु पट में अविनश्यत अवस्था में रहते हैं एवं तन्तु के नाश होने से पट का भी नाश हो जाता है । तन्तु पट में समवेत होने से इनका समवाय सिद्ध है । इसी के आधार पर समवायि कारण की व्यावहारिक परिभाषा बन गयी कि --

१. न्या० सि० मु० का० ११.

‘यत् समवेतकार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्’

व्यक्ति और जाति का समवाय सम्बन्ध है। जाति नाम है -- ‘समष्टि’ का। ‘दस’ संख्या समष्टिगत संख्या है -- उसमें ‘एक’ संख्या का सम्बन्ध स्वतः है क्योंकि ‘दस’ में एक अवश्य है। द्रव्यत्व, कर्मत्व, गुणत्व जाति में से यदि द्रव्य, गुण, कर्म निकाल दें तो द्रव्यत्वादि जातियाँ ही न बर्नीगी जैसे ‘दस’ में से एक निकालने पर दस का अस्तित्व ही न रहेगा। अतः व्यक्ति और जाति का समवाय अर्थात् नित्य सम्बन्ध है।

गुण-गुणी भी अयुतसिद्ध अनित्य-समवाय सम्बन्ध वाले हैं। गुण अपने आश्रय गुणी (द्रव्य) से पृथक् होकर रह ही नहीं सकता। यथा -- रूप-गुण (पृथिवी, जल, तेज) द्रव्य से पृथक् कथमपि सम्भव नहीं अतः इनका सम्बन्ध नित्य है।

ऐसे ही क्रियावान और क्रिया तथा नित्य द्रव्य में तथा उसकी जाति विशेषण में भी समवाय और नित्यत्व सिद्ध है।

समवाय और भीमांसक

उत्तर भीमांसक (वैदान्ती) ने समवाय सम्बन्ध का सांगोपांग सण्डन किया है। उनका कहना है कि दो भिन्न पदार्थों का सम्बन्ध तो संयोग ही होता है। इस प्रकार दो संयोगी पदार्थों का सम्बन्ध यदि समवाय होगा तो समवायी द्रव्याँ में फिर एक और समवाय इस प्रकार अनवस्था दीज होगी तथा -- ‘समवायस्त्वैक एव’^१ इस प्रकार के वैशेषिक वचनों का भी सण्डन ही जायेगा। साथ ही अयुतसिद्ध मानने से कारण कार्य भाव भी न बन सकेगा और बदती व्याघात् दीज होगी क्योंकि

१. तर्कसंग्रह, पृ० १६.

कार्य-कारण का सिद्धान्त वैशेषिकों को अभीष्ट है। अतः जो सम्बन्ध ही न बने वह नित्य कैसे ? तथा सम्बन्धी के नाश होने पर सम्बन्ध के नाश होने से समवाय अनित्य (विनाशी) हुआ।

न्याय वैशेषिकों का उत्तर है कि सभी समवायी अनित्य नहीं हैं। परमाणु समवायी, आकाश, विशेष आदि प्रलयकाल में भी रहने से नित्य हैं। अतः इनके आधारित समवाय भी नित्य है।

समवाय का स्वरूप

जिस प्रकार अनन्त वस्तुओं से अनन्त वस्तुओं का संयोग होने पर भी संयोग नामक एक सम्बन्ध सबने स्वीकार किया है। वैसे ही द्रव्यादि सभी अनुयोगियों में एक ही समवाय है।^१

स्मरणीय है कि समवाय अपने सम्बन्धियों में तादात्म्य सम्बन्ध से ही रहता है -- इसे ही स्वरूप सम्बन्ध भी कहा जाता है -- इसके अति अलग समवाय मानने की आवश्यकता नहीं। भीमांसक या वैदान्ती समवाय को स्वीकार न कर स्वरूप या तादात्म्य को ही स्वीकार करते हैं।

स्वरूप सम्बन्ध इन व्युत्पत्तियों में होने का सण्डन मुतावली में इस प्रकार है कि - समवाय अनेकों वस्तुओं में रहता वहां स्वरूप सम्बन्ध मानें तो वस्तुएं अनन्त होने से स्वरूप भी अनन्त होंगे जबकि समवाय मानने में ठाक है।

०

१. उच्यते ----- सर्वत्रैकः समवाय इति गम्यते।

-- न्या० क० पु० ७५०.

अष्टम अध्याय

अभाव - निरूपण

यद्यपि पदार्थ स्वरूप निरूपण प्रकरण में अभाव को सप्तम पदार्थ होने का प्रमाण पदार्थ का उदात्त (अभाव में) घटना है क्योंकि नास्ति पद से अभिव्यक्त तथा भाव-प्रतियोगी शब्द द्वारा ज्ञात होने से ज्ञेय है । तथापि अभाव प्रकरणसे प्रसंगतया कुमशः 'अभाव' के होने में प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं ।

महर्षि कणाद और अभाव

महर्षि कणाद ने अभाव पदार्थ को स्वीकार नहीं किया ऐसा अविकारस विद्वानों ने कहा है -- इस कथन का मूल --

धर्म विशेष प्रसूतात् द्रव्यगुणकर्म सामान्य विशेष समवायां
पदार्थानां साधर्म्यं वैधर्म्याभ्यां तत्त्व ज्ञानाग्निः शेषम् ॥

उपर्युक्त सूत्र है -- क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में अभाव शब्द का ग्रहण नहीं है । इस सूत्र में कः पदार्थों का साधर्म्य और वैधर्म्य मोटा का हेतु कहा है । यहाँ वैधर्म्य शब्द विचारणीय है । वैधर्म्य शब्द अभाव का सूचक है । क्योंकि पृथिवी में रूप का रहना जल के साथ साधर्म्य है परन्तु स्नेह गुण का न रहना जल से वैधर्म्य है अर्थात् पृथिवी में स्नेह गुण का अभाव ही उसका जल से वैधर्म्य है । जबकि पदार्थों का साधर्म्य और वैधर्म्य ज्ञान ही मोटा का हेतु है । अर्थात् पदार्थों के अभाव का ज्ञान भी उसी भाँति आवश्यक है जिस प्रकार भाव पदार्थों या पदार्थों के भाव का ।

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

इस प्रकार इस सूत्र से यह व्युत्पत्ति हुआ कि भाव और अभाव दोनों प्रकार के पदार्थों का यथार्थ ज्ञान मोक्ष का हेतु है ।

नवम् अध्याय के प्रारम्भ में ही अभाव निरूपक सूत्र है ।^१ ऐसी परिस्थिति में यह कहना सर्वथा असंगत होगा कि महर्षि कणाद को अभाव नामक पदार्थ अभिप्रेत नहीं था ।

आचार्य प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में सूत्र में अभाव के न पढ़ने का कारण इस प्रकार दिया है --

अभावस्य पृथगनुपदेशो भाव परतन्त्र्यात् नत्व भवात् ।।^२

अर्थात् अभाव का पृथक् रूप से कथन यह नहीं है कि अभाव है ही नहीं अपितु वह भाव परतन्त्र होने से पृथक् रूप से नहीं कहा गया है ।

वैशेषिक परम्परा में पदार्थ निरूपक ग्रन्थों में शिवादित्य की सप्त पदार्थों का अन्यतम स्थान है । तदनुसार -- 'प्रतियोगिज्ञानाधीन ज्ञानो भावः ।'^३

अभिप्राय है कि जिसका ज्ञान प्रतियोगी (विरोधी) के अधीन हो -- अर्थात् अभाव ज्ञान प्रतियोगिरूप भाव ज्ञान की अपेक्षा से है । उदाहरण जैसे -- 'घटी नास्ति' इसका ज्ञान 'घट अस्ति' इस ज्ञान की अपेक्षा रखता है ।

तर्क भाषा में केशव मिश्र ने भी अभाव के विषय में यही भाव स्पष्ट किया है कि --

१. क्रिया गुण व्यवदेशाभावात् प्राग्वत् ।। वै० सू० ६।२।१.

२. न्याय कन्दली, पृ० भा०, पृ० १८.

‘निष्पेधमुख प्रमाण गम्योऽभावः ।’

अर्थात् प्रतियोगि (नास्ति पद) से ~~सम्मान~~ ही जिसका ज्ञान सम्भव हो वह अभाव है । न्यायवातिकार उदयनाचार्य के मत का उल्लेख कन्दलीकार ने करते हुए कहा है -- अभाव-भाव परतन्त्र है क्योंकि अभाव का ज्ञान भाव-प्रतियोगि-तन्त्र है । कदाचित् इसी के आधार पर तर्क भाषा-कार का निर्णयात्मक परिभाषा-सूत्र है ।^१

अभाव प्रमाण है अथवा पदार्थ

अभाव प्रमाण है या पदार्थ यह भी विवेच्य इसलिये हो गया है कि वैशेषिक परम्परा के कतिपय आचार्यों ने इसे अनुमान प्रमाणान्तर्गत प्रमाण माना है और कतिपयों ने सप्तम पदार्थ ।

विशेषतया प्रशस्तपादाचार्य ने अभाव का सप्तम पदार्थ के रूप में व्याख्यान नहीं किया है उन्होंने ‘अनुमान प्रमाणान्तर्गत अभाव प्रकरण है’ इस रूप में अभाव का विशदतया वर्णन किया है । कन्दलीकार ने उसी प्रकरण में अभाव की व्याख्या इस रीति से की है कि अभाव वहाँ (अनुमान) प्रमाण रूप में विवेच्य होकर पदार्थ रूप में वर्णित हो गया है ।^२ इसमें प्रमाण-भूत बात यही है कि वहाँ अभाव की सिद्धि तो अवश्य की गयी है परन्तु (अभाव प्रमाण के रूप में नहीं । यदि ‘भूतलै घटाभाव’ इत्याकारक ज्ञान प्रमाण की कौटि में जाता है तो वह

-
१. ‘यदाह न्यायवातिकारः - स्वतन्त्रपरतन्त्रोपलब्ध्यनुपव्यक्तिगण भावाच्च विशेषः सत्तु सत्तु प्रमाणस्यालम्बनं स्वतन्त्रम्, असत्तु परतन्त्रमन्त्र प्रतियोगि-मुखेति ।’

-- न्यायकन्दली, पृ० ५४६.

२. भाववदभावोऽपि इन्द्रिय-ग्रहणयोग्य एव ।

अनुमान प्रमाण की कौटि में ही आयेगा । अभाव प्रमाण-भूत नहीं है पर उसकी सिद्धि अवश्य है । इससे सिद्ध हुआ कि प्रशस्तपादाचार्य तथा कन्दलीकार दोनों को अभाव पदार्थ के रूप में अभीष्ट है प्रमाण रूप में नहीं ।

मीमांसक (कुमारिल भट्ट) अभाव को प्रमाण मानते हैं । उनके मत में 'प्रमा' का कारण प्रमाण होने से अभाव भी अभावविषयिणी प्रमा का कारण -- 'अनुलब्धि' (अभाव) भी प्रमाण है । यद्यपि कतिपय आचार्यों ने इसका सण्डन भी किया है । चाहे अभाव कहीं प्रमाण भी बने पर पदार्थ होने में कोई सन्देह नहीं है । क्योंकि कोई पदार्थ ज्ञान का साधन होने से प्रमाण कौटि में आ सकता है परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह पदार्थ नहीं रहा ।

अभाव-भेद-निरूपण

जैसे भाव पदार्थ अनन्त हैं वैसे ही उनके अभाव भी अनन्त हैं परन्तु यथा भाव पदार्थों का षड्विधत्वेन विभाजन वैशेषिकों को अभीष्ट है । वैसे ही अभाव के भी प्रमुखतया दो भेद हैं :

१. संसर्गाभाव
२. अन्योन्याभाव

अन्योन्याभाव एक ही प्रकार है । 'घटः पटो नास्ति, पटो घटो नास्ति' अर्थात् घट पट नहीं है, पट घट नहीं है अर्थात् घट में पट का अभाव है और पट में घट का अभाव है इस प्रकार का अभाव अन्योन्याभाव कहलाता है । अन्योन्य शब्द का अर्थ है परस्पर अर्थात् परस्पर द्रव्यों का एक दूसरे में अभाव अन्योन्याभाव है । इसको ही स्वरूप-भेद कहा जाता है ।

संसर्गाभाव के पुनः तीन भेद हैं :

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

१. प्रागभाव ।
२. प्रध्वंसाभाव ।
३. अत्यन्ताभाव ।^१

प्रागभाव

‘उत्पत्तेः प्राग योऽभावः सः प्राग भावः’ उत्पत्ति से पूर्व जो अभाव रहे वह प्रागभाव होता है । मुक्तावली में इसकी परिभाषा की है --

‘विनाश्यभावत्वं प्रागभावत्वम् ।’^२

दोनों परिभाषाओं का अभिप्राय एक ही है कि जो अभाव वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व हो और वस्तु की उत्पन्न होने से जिसका नाश हो जाय वह प्रागभाव है । उदाहरणतया -- किसी स्थानविशेष पर घट नहीं है अतः वहाँ घट का अभाव है -- तदनन्तर वहाँ घट उपस्थित होता है । अर्थात् की उपस्थिति के बाद घट के अभाव का विनाश हो गया और उससे पूर्व घट का घट का अभाव था । इस प्रकार यह प्रागभाव का स्वरूप निर्धारित हुआ कि प्राग भाव विनाशी स्वभाव वाला है ।

प्रध्वंसाभाव

यह अभाव प्रागभाव के विपरीत स्वभाव वाला है । चूंकि प्रागभाव विनाशी स्वभाववाला है तो प्रध्वंसाभाव उसके विपरीत उत्पत्ति स्वभाव वाला है ।

‘जन्याभावत्वं ध्वंसत्वम्’^३

-
१. प्रागभावस्तथा ध्वंसी अत्यन्ताभाव एव च ।
एवं त्रैविध्यमापन्नः संतर्गभाव इष्यते ।।

-- न्या० सि० मु० का० १२.

१. प्रागभाव ।
२. पृथ्वंसाभाव ।
३. अत्यन्ताभाव ।^१

प्रागभाव

‘उत्पत्तेः प्राग योऽभावः सः प्राग भावः’ उत्पत्ति से पूर्व जो अभाव रहे वह प्रागभाव होता है । मुक्तावली में इसकी परिभाषा दी है --

‘विनाश्यभावत्वं प्रागभावत्वम् ।’^२

दोनों परिभाषाओं का अभिप्राय एक ही है कि जो अभाव वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व हो और वस्तु की उत्पन्न होने से जिसका नाश हो जाय वह प्रागभाव है । उदाहरणतया -- किसी स्थानविशेष पर घट नहीं है अतः वहाँ घट का अभाव है -- तदनन्तर वहाँ घट उपस्थित होता है । अर्थात् जो उपस्थिति के बाद घट के अभाव का विनाश हो गया और उससे पूर्व घट का घट का अभाव था । इस प्रकार यह प्रागभाव का स्वरूप निर्धारित हुआ कि प्राग भाव विनाशी स्वभाव वाला है ।

पृथ्वंसाभाव

यह अभाव प्रागभाव के विपरीत स्वभाव वाला है । चूंकि प्रागभाव विनाशी स्वभाववाला है तो पृथ्वंसाभाव उसके विपरीत उत्पत्ति स्वभाव वाला है ।

‘जन्याभावत्वं पृथ्वंसात्वम्’^३

१. प्रागभावस्तथा पृथ्वंसा अत्यन्ताभाव एव च ।

एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इत्यस्ति ।।

-- न्या० सि० मु० का० १२.

१५१

१. प्रथमः

२. द्वितीयः

३. तृतीयः

प्रथमः

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । नमो भगवते वासुदेवाय ।
— ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

प्रथमः

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

ठीक प्राग भाव के विपरीत ही इसका उदाहरण बनेगा । यथा --
 किसी स्थान-विशेष पर घट है अर्थात् वहां घट का अभाव तत्काल में नहीं है
 क्योंकि वहां घट है । तदनन्तर घट वहां नहीं रहा अर्थात् अभाव-जनक-प्रतियोगी-
 घट का ध्वंस हो गया, उस प्रतियोगी-भाव रूप-घट के ध्वंस होने से वहां अभाव
 उत्पन्न हो गया । वह उत्पन्न हुआ अभाव (जन्य-अभाव) ध्वंस भाव कहलाता
 है ।

अत्यन्ताभाव

नित्य संसर्गाभावत्वं अत्यन्ता भावत्वम्^१

नित्य शब्द का अर्थ है हमेशा रहने वाला या त्रैकालिक । संसर्ग का अभाव
 संसर्गाभाव । अर्थात् अत्यन्ताभाव वहां रहता है जहां उसका प्रतियोगी भाव
 पदार्थ कभी न हो । यथा -- वायु में रूप का अत्यन्ताभाव है क्योंकि वायु में
 रूप न पैदा हुआ न होगा ।

उत्पादविनाशशाली अभाव

कुछ विद्वानों ने संसर्गाभाव का ही एक चतुर्थ भेद उत्पाद विनाश शाली
 अभाव माना है । इसका उदाहरण - भूतल से घट को हटा लेना और पुनः ले
 जाना रूप किया दिया है । अर्थात् जिस काल में घट उपसारित होगा तब अभाव
 पैदा हो जायेगा । इस प्रकार एक काल में ही इस प्रकार की घट को हटाने और

पुनः ले जाने क्रिया से यह चतुर्थ प्रकार का अन्योन्याभाव से भिन्न संसर्गाभाव का चतुर्थ भेद रूप उत्पाद विनाशशाली अभाव कहलाता है । यह कुछ विद्वानों का मत है ।^१

अभाव और प्रभाकर (मीमांसक)

जाचार्य प्रभाकर मतानुयायी अभाव को नहीं मानते हैं । उनका मत है कि -- 'भूतल में घट का अभाव' इस प्रकार की प्रतीति 'अभाव' नामक किसी अन्य पदार्थ प्रतीति नहीं कराती अपितु बिना घट के भूतल का होना - भूतल का अपना स्वरूप है । अर्थात् वह केवल भूतल है या भूतल का कैवल्य है, अभाव नामक अलग पदार्थ नहीं । उनके मत में ऐसा मानने से लाघव भी होगा ।

हसकै उच्चर में नैयायिक का कथन है कि --

१. मीमांसकों ने अभाव के मानने में प्रयत्न लाघव की बात कही है । सौ ठीक नहीं क्योंकि यदि भूतल में घटाभाव यदि भूतल का स्वरूप होगा तो पर्वत में घटाभाव पर्वत का स्वरूप होगा । इस प्रकार अनन्त स्वरूपों की कल्पना तदनुसार अनेकों आधारों की कल्पना से अभाव पदार्थ मानने में अधिक लाघव है ।

२. हसकै अतिरिक्त 'भूतल घटाभावः' में जाचार और जाकेय भाव की प्रतीति होती है क्योंकि भूतल जाचार और घट जाकेय है । लेकिन यदि 'भूतल में घट का अभाव' भूतल का स्वरूप मानें तो जाचार-जाकेय भाव भी न बनेगा ।

०

१. तत्रोत्पाद विनाशशाली चतुर्थो यमभाव इति कैचित् ।

-- न्या० सि० सु० पृ० ६६.

उ प संहार

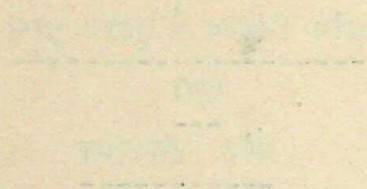
प्रस्तुत लघु शोध-निबन्ध में महर्षि कणाद प्रतिपादित सूत्रों पर प्रसस्तपादाचार्य कृत भाष्य एवं उसकी व्याख्या (टीका) कन्दली को उद्देश्य करके सप्त-पदार्थों का यथामति विवेचन किया गया है। यद्यपि न्याय-कन्दली में न्याय वैशेषिक सभी ग्रन्थियों को प्रश्नोत्तर प्रणाली से सुलभाने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। साथ ही वैशेषिक दर्शन के प्रतिपाद्य पदार्थ निरूपण के बुद्धि प्रकरण में प्रमाण पर्यालोचन विस्तारपूर्वक हुआ है। तदनुसार प्रमाणप्रकरण का सुदम अध्ययन परिणाम इस निबन्ध में सीमा निर्धारित होने से सूत्रत्वेन ही हुआ है, तथापि वैशेषिक का प्रतिपाद्य पदार्थ निरूपण कन्दलीमुक्ततया स्फुट रूप से करने का प्रयास किया है। पारिभाषिक शब्दों और प्रमुख तथ्यों को स्पष्ट करने के लिये नवीन प्राचीन भाष्य, तथा न्याय-वैशेषिक के प्रकरण ग्रन्थों की सहायता ली गई है। इसके साथ ही प्रसिद्ध प्रकरण ग्रन्थों की सहायता प्रसस्तपादाचार्य तथा श्रीधराचार्य के आशय को स्पष्ट करने हेतु ही लेने का प्रयत्न किया है। कहीं-कहीं सूत्रकार महर्षि कणाद तथा उत्तरवर्ती भाष्य टीका और प्रकरण ग्रन्थों का विवेचन स्पष्टीकरण के लिये तुलनात्मक निरूपण भी किया गया है।

शोध निबन्ध मै गृहीत ग्रन्थ

तथा

संकेत विवरण

- | | | |
|-----|-----------------------|--|
| १. | वै० सू० | वैशेषिक दर्शन प्रशस्तपादभाष्य (हिन्दी - श्री दुष्किरान शास्त्री) |
| २. | ,, ,, | वैशेषिक सूत्र उपस्कार भाष्य |
| ३. | ,, ,, | वैशेषिक सूत्र विमोदय भाष्य |
| ४. | प्र०पा०भा०
न्या०क० | प्रशस्तपादभाष्य न्यायकन्दली सहित (जाधर ग्रन्थ) |
| ५. | कि० | किरणावली (उदयनाचार्य) |
| ६. | | भारतीय दर्शन (उपाध्याय) |
| ७. | प० शा० | पदार्थ शास्त्र |
| ८. | | भाषा परिच्छेद (विश्वनाथ पंचानन) |
| ९. | न्या०सि०मु० | न्यायसिद्धान्तमुक्तावली |
| १०. | तर्क सं० | तर्क संग्रह (हिन्दी व्याख्या डा० दयानन्द भागव) |
| ११. | त० भा० | तर्क-भाषा (केशव मिश्र) हिन्दी भाषायाँ विश्वेश्वर |
| १२. | | भारतीय दर्शन (डा० धर्मन्तुनाथ शास्त्री) |
| १३. | | वैशेषिक दर्शन -- तुलनात्मक अध्ययन (डा० बट्टीनाथ सिंह) |
| १४. | | सांख्य कारिका (हरिवर कृष्ण) |
| १५. | | वेदान्तसार (सदानन्द) |
| १६. | | ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य) |
| १७. | स० प० | सप्तपदार्थी (शिवादित्य) |
| १८. | | व्योमवती (वैशेषिक भाव - टीका) |
| १९. | | तर्क दीपिका (बन्नामट्ट) |
| २०. | | History of Indian Philosophy by Umesh Mishra |
| २१. | | भारतीय दर्शन परिचय (हरिमोहन फा) |



पृष्ठ १ - १००	१००
पृष्ठ १०१ - २००	२००
पृष्ठ २०१ - ३००	३००
पृष्ठ ३०१ - ४००	४००
पृष्ठ ४०१ - ५००	५००
पृष्ठ ५०१ - ६००	६००
पृष्ठ ६०१ - ७००	७००
पृष्ठ ७०१ - ८००	८००
पृष्ठ ८०१ - ९००	९००
पृष्ठ ९०१ - १०००	१०००

